शुक्ल-यजुर्वेद-संहिता

(प्रथमपञ्चाध्यायात्मिका)

सर्वतन्त्रस्वतन्त्र-कवितार्किक-परमहंस-परिव्राजकाचार्य-
सामसंस्कारभाष्यकार-श्री काशी पण्डितसभाप्रदत्त-
"पण्डितराज" इत्युपाधिसमलंकृत-स्वामीश्रीमद्भगवदा-
चार्य-प्रणीतेन शुक्लयजुःसंस्कार-भाष्येण समुपबृंहिता

संवत् २०१६]   [मूल्य रु० ३.३०

प्रकाशक :
मनोहर विद्यालंकार
कन्हैयालाल देवीसहाय
चावड़ी बाजार, दिल्ली

पुस्तक मिलनेके स्थान:—

१. स्वामिश्रीभगवदाचार्य'
राजनगर सोसाइटी,
अहमदाबाद-७.

२. मनोहर विद्यालङ्कार,
कन्हैयालाल देवीसहाय,
चावड़ी बाजार, दिल्ली

३. चौखम्बा संस्कृत सीरीज -आफिस,
गोपालमन्दिर लेन
बनारस-१.

४. गुरुकुल विश्वविद्यालय काँगड़ी
गुरुकुल कांगड़ी, हरिद्वार

मुद्रक :
हरिश्चन्द्र विद्यालंकार
मानस प्रिंटिंग प्रेस,
२८१०, मातावाली गली,
दिल्ली ।

शुक्लयजुर्वेदस्य प्रथमपञ्चाध्यायान्तर्गतमन्त्राणां

सूची

—o—

प्रकाशनका प्रयोजन

अज्ञात पुरातन संस्कारवश मैं वेदका एक विद्यार्थी हूं। नया वेदभाष्य मिलने पर उसे पढ़नेका यत्न करता हूँ। सामवेदपर श्रीस्वामिभगवदाचार्यजीके किए हुए सामसंस्कार भाष्यको पढ़कर मैं उनका भक्त बन गया।

सौभाग्यसे सन् ५७-५८ में उनसे तीन बार साक्षात् तथा विचारविनिमय हुआ। परिणाम यह हुआ कि वदिक शब्दोंको यौगिक मानकर स्वामिदयानन्दानुमोदित भाष्यशैलीमें मेरी आस्था बढ़ गई।

तब इच्छा हुई कि यजुर्वेदका भाष्य भी आध्यात्मिक हो। मैंने उनसे कई बार प्रार्थना की। अन्तमें उन्होंने इसे स्वीकार कर लिया। उसी के परिणामस्वरूप यजुर्वेदके प्रथम पांच अध्यायोंका भाष्य आपके हाथ में है।

प्रत्येक व्यक्ति अपने विचारों में स्वतन्त्र है। उसे अपने विचार व्यक्त करनेकी स्वतन्त्रता है। लेकिन साथ ही दूसरों के विचारोंको शान्तिपूर्वक सुनना–

भी कर्त्तव्य है। इसलिए मतभेद होते हुए भी शान्त रहना उचित है।

विद्वत्-समाजमें तो विरोधी विचारको लाभकर माना जाता है। इसलिए यदि इस भाष्यक कुछ विचार किसीको अपने मतसे भिन्न प्रतीत हों तो उसका युक्तियुक्त समाधान करनेका प्रयत्न करना चाहिए।

मैं तो वेदका विद्यार्थी होनेके कारण वेदका प्रचार चाहता हूँ। और वेदके प्रत्येक भाष्यका स्वागत करता हूँ। आशा है इस भाष्यको देखकर दूसरे विद्वानों तथा विद्यार्थियोंको भी प्रेरणा मिलेगी।

अभिप्राय यह है कि चारों वेदोंके बीसियों भाष्य निकलें और फिर जनसाधारण उनपर विचार-विमर्श करें तथा तत्त्वका अपनी बुद्धिके अनुसार निश्चय कर उसे अपने जीवनमें घटानेका प्रयत्न करें।

मैं पूज्य स्वामीजीका बहुत अनुगृहीत हूँ। आशा करता हूँ कि वे यजुर्वेदका भाष्य अवश्य पूर्ण करेंगे।

कार्तिक सुदी २ — विनीत

भाई दूज १९१६ वि० — **मनोहर विद्यालंकार**

थोड़े से शब्द

वेद ईश्वरीय हैं अथवा आर्ष हैं, इस विवादको छोड़ देनेके पश्चात् इतना कथन निर्विवाद है कि वेद आर्योंकी परम पवित्र सम्पत्ति हैं। निबिड अन्धकारसे आच्छन्न जगत्में किसी समय वेदवाणी ही ज्ञानप्रकाश कर रही थी। कुछ विद्वानोंके मतोंको छोड़ दें तो बहुमत यह है कि जगत्के ग्रन्थालयमें वेद सर्वप्रथम ग्रन्थ हैं। जब किसी भी मत या सम्प्रदायका उदय नहीं हुआ था तब केवल वेद ही मानवजातिके दिग्दर्शक ग्रन्थ थे। वेदोंका किसी मत या सम्प्रदाय से कोई सम्बन्ध नहीं है। वेद ज्ञानप्रवर्तक हैं न कि मत या सम्प्रदायके प्रवर्तक। **शृण्वन्तु विश्वे अमृतस्य पुत्राः** इस आदर्शके अनुसार वेद किसी वर्णविशेष या आश्रम विशेषके उपदेश ग्रन्थ नहीं हैं प्रत्युत मानवमात्रके लिये अमृतवाणी हैं।

वेदोंका उपनिषदोंके साथ कोई सम्बन्ध नहीं है। वैदिक ज्ञान एक वस्तु है और औपनिषद ज्ञान दूसरी वस्तु है। अतएव वेदान्तदर्शनकी संगति सभी भाष्य-कारोंने उपनिषदोंके आधारपर ही लगायी है। उसके

सभी अधिकरण उपनषदोंके आधारपर ही संगठित किये गये हैं। किसी भी प्राचीन भाष्यकारने वेदान्त-दर्शनका आधार संहिताचतुष्टयको नहीं माना है। सभी अचार्यों और विद्वानोंके सिद्धान्तका निष्कर्ष यही रहा है कि औपनिषद ज्ञानकी धारा श्रौतज्ञानकी धारासे विभिन्न दिशामें प्रवाहित हो रही है। अत-एव किसी भी विद्वान्‌ने अपने वेदान्तभाष्यमें संहिता-मन्त्रोंका आधार नहीं लिया है। यह अभिमति साधार है या निराधार इसका निर्धारण विद्वानों को करना है।

इस विषयमें मेरा अपना मत निम्नलिखित है। वेदान्तदर्शनकी रचनासे पूर्व अवश्य ही कुछ उपनिषदों की रचना हो चुकी थी। वेदार्थनिर्धारणकी ओर दृष्टि न रखनेवाले तत्कालीन विद्वानोंने वेदोंके याथार्थ्यरक्षणकी ओर ध्यान नहीं दिया। उपनिषत्काल याज्ञिककालकी समाप्तिका अव्यवहितोत्तरकाल है। छान्दोग्य और बृहदाण्यक भी याज्ञिककालकी समाप्ति और अद्वैत-ब्रह्मवादके आरम्भके मध्य बिन्दुमें स्थित है। उपनिषद् ही ब्रह्मज्ञानके आदिस्रोत हैं, इस कथनमें मेरा वैमत्य है। सभी उपनिषद्

किसी अद्भुत और अश्रुत ज्ञानकी ओर हमें ले जाती हैं, इस प्रस्थानमें मैं सहमत नहीं हूँ। मेरी इस असहमतिकी रक्षाके लिये ही मैं यजुर्वेदके ४० वें अध्यायको उपनिषद् नाम नहीं देना चाहता। चारो वेदोंमें उपनिषद् नामका कोई विभाग नहीं है। छान्दोग्य और बृहदारण्यक ये दोनों ही उपनिषद् हैं। शतपथ ब्राह्मणका अन्तिम भाग बृहदारण्यक है और सामवेदकी कौथुमी शाखाके ब्राह्मणके अन्तिम आठ अध्यायोंको छान्दोग्योपनिषद् कहा जाता है। इन दोनोंकी तथा अन्य उपनिषदोंकी दृष्टि न तो नूतन है और न संहिताओंसे उत्कृष्ट है। मुण्डकोपषिद्ने ही थोड़ी सी नवीन दिव्यदृष्टिका दान किया है। उसने ही तत्कालमें प्रचलित योगप्रथाका घोर विरोध किया है। पवित्र ज्ञानकी ओर मानव-मानसको आकृष्ट किया है, यज्ञोंके विषयमें मुण्डककी स्पष्टवादिता उसे अन्य उपनिषदों की अपेक्षा अत्युन्नत पदपर समासीन बनातीहै।

प्लवा ह्येते अदृढ़ा यज्ञरूपा अष्टादशोक्तमवरं येषु कर्म।
एतच्छ्रेयो येभिनन्दन्ति मूढा जरामृत्यु ते पुनरेवापि यन्ति॥

अविद्यायामन्तरे वर्तमानाः स्वयं धीराः पण्डितंमन्यमानाः।
जङ्घन्यमानाः परियन्ति मूढा अन्धेनैव नीयमाना यथान्धाः॥

अविद्यायां बहुधा वर्तमाना वयं कृतार्था इत्यभिमन्यन्ति बालाः ।
यत्कर्मिणो न प्रवेदयन्ति रागात्तेनातुराः क्षीणलोकाश्च्यवन्ते ॥
इष्टापूर्तं मन्यमाना वरिष्ठं नान्यच्छ्रेयो वेदयन्ते प्रमूढाः ।
नाकस्य पृष्ठे ते सुकृतेनुभूत्वेमं लोकं हीनतरं चाविशन्ति ॥

जितनी स्पष्ट और सत्य वाणी मुण्डकोपनिषद्की है उतनी स्पष्ट और सत्य भाषा किसी भी उपनिषद्के मुखसे नहीं निकल सकी है । अतः सामान्यदृष्टिसे यह माना जाता है कि संहिताभाग केवल कर्मप्रतिपादक ग्रन्थ हैं और ज्ञानके प्रतिपादक तो केवल उपनिषद् ही हैं । मैं यह कहता हूं कि संहिताभाग मानवजाति के आदिभाग, मध्यमभाग और अन्तिमभागके संरक्षक ग्रन्थ हैं अतएव उनमें कर्मका भी प्रतिपादन है और ज्ञानका भी । मानव जीवन किस प्रकार निःश्रेयस प्राप्त कर सकता है उसका आचूलमूल वर्णन-उपदेश संहिताभागमें ही है । ऐसा मानने पर ही वेदोंको सर्व-ज्ञानका अधिष्ठान या कोष माना जा सकता है । यदि संहिताभागको केवल कर्मकाण्डके अधीन सौंप दिया जाय और ज्ञानका उद्बोधक केवल उपनिषदोंको मान लिया जाय तो आर्योंके सबसे प्राचीन और सर्वप्रथम ग्रन्थ वेद अपने महत्त्व और सौष्ठवको खो बैठते हैं ।

संहिताओंमें ज्ञानकी दिशा नहीं है इस भ्रमका

उच्छेद करनेके लिए ही मैंने वेदान्तदर्शनके स्वरचित वैदिकभाष्यमें केवल संहिताओंकी श्रुतियोंका उपयोग किया है। मेरे वेदभाष्यका प्रयोजन भी संहिताओंके गूढज्ञानका आलोकन और प्रदर्शन ही है। मैं विश्वास-पूर्वक मानता हूं कि औपनिषद ज्ञान वैदिकज्ञानसे विभिन्न नहीं हैं और उसका आदिम स्रोत भी संहिता भाग ही है। यह भी बहुत स्पष्ट है कि औपनिषद ज्ञानकी अपेक्षा संहिताभागका ज्ञान सर्वथा परिपूर्ण और उत्कृष्ट है।

शुक्लयजुर्वेदकी माध्यन्दिन शाखाके सम्बन्धमें अनेक वैदिक विद्वानोंको अनेक बातें करनी हैं। मुझे भी इस सम्बन्धमें अनेक ऊहापोह करने हैं। अज्ञात-कालसे वैदिक विद्वानोंने इस शुक्ल यजुर्वेदको माध्य-न्दिनशाखाके नामसे प्रचारित कर रखा है। इसके कारण या कारणोंकी प्रामाणिक शोध होनी चाहिए। मेरा भी इस दिशामें प्रयास चल रहा है।

आज इतना ही कहकर सन्तोष करता हूं कि महाभाष्यकार महर्षि पतञ्जलिने "इषे त्वोर्जे त्वा" का प्रतीक महाभाष्यमें लिखा है। यह प्रतीक शुक्ल और कृष्ण दोनों ही यजुर्वेदोंमें उपलब्ध है। यजुर्वेद

के द्वैविध्यका कारण बहुत प्रसिद्ध है । सब विषयोंपर स्वतन्त्रतापूर्वक विचार करनेकी आवश्यकता है । समय प्रतीक्षणीय है ।

धन्यवाद

श्रीमान् पण्डित मनोहरजी विद्यालंकार गुरुकुल कांगड़ीके स्नातक हैं । इन्होंने मेरे **सामसंस्कारभाष्य** (सामवेदभाष्य)को पढ़ा, उन्हें मेरी शैली रुचिकर प्रतीत हुई और फिर उसी प्रकार शुक्लयजुर्वेदपर भी भाष्य लिखनेका मुझे आमन्त्रण दिया । शुक्लयजुर्वेद का भाष्य बहुत ही श्रमसाध्य है । मैं इस अवस्था में सम्पूर्ण वेदपर तो आज भाष्य नहीं कर सका । परन्तु प्रथमसे पांच अध्यायोंपर यह **शुक्ल यजुःसंस्कार-भाष्य** लिखनेका श्रद्धापूर्वक श्रम किया है ।

आ परितोषाद्विदुषां न साधु मन्ये प्रयोगविज्ञानम् ।
बलवदपि शिक्षितानामात्मन्यप्रत्ययं चेतः ।।

महाकविके इस वचनके अनुसार सहज भावसे मैं इसे वेदविद्वानोंके करकमलोंमें सादर समर्पित करता हूँ । आशा है मानवसुलभ त्रुटियोंको सुधारकर विद्वान् इसका स्वागत करेंगे ।

इस भाष्यके प्रूफ संशोधनका भार पण्डित श्री हरिश्चन्द्रजी विद्यालंकार तथा मेरे माननीय सुहृद् पण्डित श्रीदीनानाथजी सारस्वतने सहर्ष स्वीकृत किया था। एतदर्थ दोनों महानुभावोंका उपकार स्मरण करता हूं।

अन्तमें मैं पण्डित श्री मनोहरजी विद्यालंकार को हार्दिक धन्यवाद देता हूँ जिन्होंने अपने धनव्ययसे इस शुक्लयजुर्वेद पञ्चाध्यायीको मुद्रित कराकर श्रुति भगवतीकी पवित्र सेवा की है।

स्वामी भगवदाचार्य
राजनगर सोसाइटी
कार्तिक शुदि ५, २०१६ वि० अहमदाबाद-७

प्रशस्तयः

यजुर्वेद नमस्तुभ्यं मत्कृते विवृतात्मने ।
प्रयत्नेनैव गम्याय संयमक्षितिभूभृताम् ॥१॥

आराधितोसि भगवन्मनसा मनस्वी,
श्रद्धाभरेण रुचिरेण मया चिरेण ।
स्याच्चेदनल्पतनुरल्पतनुश्च वा स्यात्,
काचित्त्रुटिः सदय तां कृपया क्षमस्व ॥२॥

त्वत्स्पर्शतो मम जनिः सफलात्मिकाभूत्,
पूतं मनस्तव वचश्चयचिन्तनेन ।
प्राप्ता गुरोश्चरणरेणुकणप्रसादाद् ,
विद्यानवद्यगतिकाभवदद्य देव ॥३॥

प्रज्ञा जपस्तप उपास्तिरथ स्तुतिस्ते,
सर्वाणि देव फलितानि ममाद्य भाग्यात् ।
तत्रापि तेतिकरुणा करुणानिधेस्ति,
हेतुर्महानिति हि तां प्रणमामि पुण्याम् ॥४॥

सर्वस्तुते तव सुचारुसमर्चयाद्य,
सन्तर्पिता मम मया पितरोखिलास्ते ।
ये ब्रह्मवित्पदमवाप्य समाप्य लीलां
लीलातनोरनुभवन्ति परप्रसादम् ॥५॥

माराक्षीं मातरं दिव्यां गङ्गादत्तत्रिपाठिनम् ।
पितरं मनसा स्तौमि यजुर्भाष्यप्रसादितौ ॥६॥

वेदरक्षापरं दृष्ट्वा सूनुं सर्वजितं स्वकम् ।
श्रीमद्भगवदाचार्यं ताभ्यां किं न जितं भवेत् ॥७॥

गुरुपादाः प्रसीदन्तु महासारस्वता हि ते ।
येषामेवानुकम्पातोतरं विद्यामहानिधिम् ॥८॥

यजुःसंस्कारभाष्यं सच्छुद्धिबुद्धिप्रदायकम् ।
विरचय्य यथाप्रज्ञं यजुष्येव समर्पये ॥९॥

सन्तुष्यतु यजुर्वेदः शुद्धेनैतेन कर्मणा ।
श्रीमद्भगवदाचार्य इत्यभ्यर्थयते नतः ॥१०॥

श्रीमद्रामप्रसादस्य वंशे राममनोहरः ।
प्रसादान्तो महाप्राज्ञः प्रापदाचार्यतां सुधीः ॥११॥

तस्यैवाहं कृपापात्रं शरण्यस्य दयानिधेः ।
श्रीमद्भगवदाचार्यः सर्वविद्याविशारदः ॥१२॥

विप्रतिपन्नतां यातां राममन्त्रपरम्पराम् ।
विशोध्य रामानुजतो रामानन्दान्व्यवाच्छिदम् ॥१३॥

सामवेदे च वेदान्तदर्शनोपनिषत्स्वपि ।
सुभगं भाष्यमाभाष्य सम्प्रदायमशोभयम् ॥१४॥

रामानन्ददिग्विजयं ख्याताख्यानपुरस्सरम् ।
प्राचकाशं विनिर्माय रामानन्दयशःश्रियम् ॥१५॥

श्रीमन्महात्मनो गान्धेः प्रशस्यं चरितं महत् ।
सहस्रैः पञ्चभिः श्लोकैरधिकैश्चाप्यचीकरम् ॥१६॥

अन्यानपि बहून् ग्रन्थान् पञ्चसप्ततितोधिकान् ।
विरचय्य देवभाषासेवामबिभरं मुदा ।।१७।।

विशिष्टाद्वैतवेदान्ताद्वैतवेदान्तयोरपि ।
ग्रन्थावलेखिषं तत्र प्रवेशं वाञ्छतां कृते ।।१८।।

श्रौतग्रन्थेषु सर्वेषु जैमिनीयानुशासनम् ।
परोपकृतिमातन्वत्सदा विजयतेतराम् ।।१९।।

बालानामवबोधाय भाषयानतिगूढया ।
प्रक्रियां तस्य शास्त्रस्याररचं शिवदायिनीम् ।।२०।।

नवसप्ततितमे मे ह्यायुषो वत्सरे शुभे ।
भाष्यं प्रपूर्णतां नीतं यजुर्वेदे महाप्रभम् ।।२१।।

बाणब्रह्मनभोनेत्रमिते २०१५ विक्रमवत्सरे ।
आश्विने शुक्लसप्तम्यां भाष्यमेतदपूरयम् ।।२२।।

।। इति ।।





सर्वतन्त्र-स्वतन्त्र-कवितार्किक-परमहंस-परिव्राजकाचार्य-

"पण्डितराज" स्वामिश्रीमद्भगवदाचार्य-प्रणीतेन

शुक्लयजुः-संस्कारभाष्येण

समुपबृंहिता

शुक्लयजुर्वेदसंहिता



मङ्गलाचरणम्

लालितोस्मि महाभाग्यो बाल्यादेवोरसा यया ।
वात्सल्यरूपया श्रुत्या मातरं तां नमाम्यहम् ॥१॥
यस्य च्छायां समाश्रित्य परमां शान्तिमश्नुवे ।
वेदवृक्षं तमह्नाय तर्पये भाष्यवारिभिः ॥२॥
भाष्यकारैश्च यैः पूर्वैर्वेदाः समुपबृंहिताः ।
भाष्याक्षरैरहं तेभ्यो धारयाम्यादराद् बहु ॥३॥
अर्थमाध्यात्मिकं वक्तुं यजुर्वेदस्य कृत्स्नशः ।
यजुः-संस्कारभाष्यं तु रचयामि सदर्थकम् ॥४॥
गुरूणां पादुके नत्वा स्मृत्वा तेषां वचांसि च ।
वेदरत्नाकरं निर्भीः प्रविशामि तमोनुदः ॥५॥
ब्रह्मसूत्राण्युपस्कृत्य व्याख्यायोपनिषद्गवीः ।
वर्धयामि प्रयत्नेन सर्वपूज्यां श्रुतिश्रियम् ॥६॥

आक्षिप्ता भवन्ति । न स्याद्यावत्पवित्राचारः पवित्रविचारो वा न स्यात्कथमपि दुःखाकर-निकारः । एवं चात्र कार्यकारणभावो वेदितव्यः । ऊर्गिति कारणम् । इडिति कार्यम् । पवित्रेणैव मनसा सर्वदुःखनिवृत्तिः साध्या स्यादिति । इति द्वितीयः खण्डः । उपासकानामार्तवचनं निशम्य सान्त्वयतीवेश्वरः प्रार्थयमानान्—वायव स्थ इति । वान्ति, सर्वत्र गच्छन्तीति, वायवः । यूयमूर्ध्वगमनशीलाः स्थ एवेति न जगज्जालव्यालाद्भेतव्यमिति । अवश्यं मनोबलेनोपार्जितेन युष्माकमूर्ध्वगतिः सेत्स्यत्येवेति । इति तृतीयः खण्डः । देवो, दिव्यगुणविशिष्टम् । सविता मनः । सूते विविधान् पदार्थानिति । मन एव संकल्पबलादुत्पादयति विविधान् पदार्थान् । मनसोभावे पदार्थाभावः सर्वविद्वज्जनानुभवसिद्धः । अतः सवितात्र मन एव । वो युष्मान् प्रार्थयमानान् श्रेष्ठतमाय परमश्रेयस्कराय । इष्ठनैव तमबर्थसिद्धौ तमबितिप्रयोगोत्र च्छान्दसः । कर्मणे आर्पयतु, प्रकर्षेण नयतु । ऋ गतौ । युष्माभिः स्वकीयेन पवित्रेण मनसा पवित्रमेव कर्मानुष्ठेयमिति पिण्डितार्थः । श्रेष्ठेनैव कर्मणोर्ध्वगतिप्राप्तिः स्यान्नान्यथेति । अनेनाचारविचारशुद्धिरुपदिष्टा भवति । इति चतुर्थः खण्डः । हे अघ्न्या ईश्वरभक्ताः । ईश्वरभक्ताः सर्वदा सर्वथा च हन्तुमयोग्या भवन्तीति तेघ्न्या उच्यन्ते । यद्यपि जीवानां नित्यतया स्वभावत एव ते हन्तुमयोग्याः सन्ति तथापि नात्र हननं प्राणवियोगसम्पादनम् । अधःपातोपि हननमेव । ततोऽघ्न्या इत्यनेनोर्ध्वगतयो ग्राह्याः । एवं च हे अघ्न्या मद्भक्ता ईश्वरभक्ता यूयम् आप्यायध्वम् समन्तान्मत्प्राप्त्या तृप्ता एव भवतेति पारमेश्वरं वाक्यम् । इति पञ्चमः खण्डः । इन्द्राय, इन्द्रस्य

ममेति । षष्ठ्यर्थे चतुर्थी । भागं, भग एव भागः । ऐश्वर्यम् । प्राप्नुतेति शेषः । इति षष्ठः खण्डः । प्रजावतीर्नित्यं प्रकर्षेण जननवतीः, नवनवोन्मेषशालिनीः । अनमीवा व्याधिरहिता निर्दोषा इति यावत् । मतीरित्याहर्तव्यम् । नित्यं नवनवोन्मेषशालिनीर्बुद्धीः । प्राप्नुतेति शेषः । ताश्च बुद्धयः अयक्ष्मा, अयेन गत्या क्ष्मा इव पृथिवीव निरन्तरगमनशीला वृद्धिशीलाश्च भवन्तु । गतिशून्यं वस्तु सपदि नाशवद्भवति । गतिर्हि धर्मवर्धिका । अत एवादित्यो न स्थिरः । अत एव स आदित्योक्षीणधर्मा । अत एव चन्द्रोपि न स्थिरः । अत एवेयं भूमिरपि न स्थिरा । सर्व एव गतिमन्तः । सर्व एते क्षीणधर्माणोपि न सपदि नाशवन्तः । इति सप्तमः खण्डः । स्तेनः स्तेनयतीति स्तेनश्चौरः । चौर्यं हि बहुविधम् । वित्तचौर्यं ग्रन्थचौर्यं मनश्चौर्यं हृदयचौर्यमित्यादि सर्वं स्तेनकर्मैव । एवं च यो मनश्चोरोस्ति कापट्यवानस्ति स वो युष्माकं मां शरणमुपेतानां मा ईशत, प्रभुर्मा भवतु । बहुवचनम् अघशंस इत्यपेक्षया । इत्यष्टमः खण्डः । अघशंसः, अघमेव शंसन्ति प्रशंसन्ति ये, ते, पापप्रणयिनो जना अपि वो मा ईशत, युष्माकं प्रभवो मा भूवन्निति । दुरितेभ्यो दुरितपरायणेभ्यश्च दूरापसरणमेव वरम् । इति नवमः खण्डः । नैतावदेव । अस्मिन्मयि गोपतौ जगद्रक्षके परमात्मनि । गौः पृथिवी । लक्षणया सर्वमेव जगदत्र गृह्यते । परमात्मा न केवलं पृथिवीपतिर्निखिलस्यैव जगतः पतित्वं हि स बिभर्ति । एवं च गोशब्देन सर्वे प्राणिनः सर्वे च पदार्था गृहीता भवन्ति । ते च सर्वे ध्रुवाः स्यात, स्थिरा भवत । परमात्मनि जीवानां स्थैर्यमेव

शिवावाहकं भवति । चञ्चलमनस्का हि स्वार्थभ्रष्टा भवन्ति । इति दशमः खण्डः । प्रार्थयितारः पारमेश्वरमादेशं स्वीकृत्य वदन्ति—अस्मासु यस्य कस्यचिद्यजमानस्य त्वामनुसरतः । अनुसरणमेव परमात्मनो यजनम् । अनुसरणं च तदीयानुशासनपालनम् । बह्वीर्बहुविधेषु पदार्थेषु प्रवहन्तीर्बहुविधा वृत्तीः पाहि रक्ष । त्वदन्यमनस्को मा कश्चिदपि भूदस्मासूपासकेष्विति तात्पर्यम् । एकादशः खण्डः । एवं च हे परमात्मन् पशून्समदर्शिनोस्मान् पाहि रक्ष । समानं पश्यन्तीति पशवो योगिनः परमेश्वरभक्ता वा ॥ इति द्वादशः खण्डः ॥ १ ॥

भावार्थ—इस मन्त्रमें एक नहीं बारह वाक्यखण्ड हैं । उनके क्रमशः ये अर्थ हैं । १—हे परमेश्वर ! ऊर्ध्वगतिके लिये अर्थात् सर्वदुःखनिवृत्तिके लिये मैं तुम्हारा आह्वान करता हूँ । २—पवित्र आचार और विचार आदि सात्विक बलवृद्धिके लिये मैं तुम्हारा आह्वान करता हूं । ३—जाने ईश्वर जीवोंको उपदेश न करता हो कि हे जीवो ! उपासको, तुम ऊर्ध्वगतिको प्राप्त करने वाले बनो । ४—हे जीवो, तुम्हारा दिव्यगुणयुक्त मन तुम लोगोंको परमश्रेयस्कर कार्य करनेके लिये प्रेरणा करे । अर्थात् तुम अपने-अपने मनको पवित्र बनाओ । ५—हे ईश्वरभक्तो तुम लोग मेरी प्राप्तिसे—ईश्वरकी प्राप्तिसे—तृप्त बनो । अर्थात् जागतिक पदार्थोंके मोहमें पड़कर आत्मनाश मत करो । ६—मेरे ऐश्वर्यको प्राप्त करो । अर्थात् भक्ति, प्रपत्ति, ज्ञान, सदाचार आदिके द्वारा सायुज्य मुक्ति प्राप्त करनेके अधिकारी बनो और मेरी समताको प्राप्त करो । ७—हे जीवो नवनवोन्मेषशालिनी निर्दोष बुद्धिको प्राप्त करो । वह बुद्धि

गतिवाली हो। जैसे पृथिवी निरन्तर गतिशील और वृद्धि-शील है ऐसे ही तुम भी बनो। जो बुद्धि गतिशील न होगी वह चर्मबुद्धि होगी और उससे तुम सदा अधःपतनकी ओर ही प्रयाण करते रहोगे। ८–हे जीवो, सावधान रहना जिससे कि कपटी जीव तुमपर अपना अधिकार न प्राप्त कर सकें। ९–पाप और पापाचारमें निरन्तर लगे हुए लोग भी तुमपर अपना प्रभुत्व स्थापित न कर सकें। १०–इतना ही नहीं; जग-द्रक्षक मुझ परमेश्वरमें तुम सब लोग स्थिर बुद्धिवाले बनो। ११–अब उपासक जीव परमेश्वरके आदेशका स्वीकार करके कहते हैं–हममेंसे जो कोई भी जीव, हे ईश्वर, तुम्हारा अनुसरण करता है, तुम्हारी आज्ञाओंका पालन करता है उसकी मानसिक वृत्तियों का सदा रक्षण करते रहो जिससे कि वह कभी मार्गभ्रष्ट न बने। १२–हम सदा समानदर्शी बने रहें और हे परमेश्वर तुम सदा हमारी रक्षा करते रहो ॥१॥

वसोः पवित्रमसि द्यौरसि पृथिव्यसि मातरिश्वनो घर्मोसि विश्वधा असि। परमेण धाम्ना दृꣳहस्व मा ह्वार्मा ते यज्ञपतिर्ह्वार्षीत् ॥२॥

परमेष्ठी प्रजापतिर्ऋषिः। स्वराडार्षी त्रिष्टुप् छन्दः।

परमेश्वरं प्रार्थयत उपासकः—हे परमेश्वर त्वं वसोर्वसति लोक इति वसुर्जीवः। तस्य त्वं पवित्रमसि, पावनकर्तासि। नपुंसकत्वमार्षम्। द्यौरसि। वसोरित्यनुवर्तते। जीवस्य मोदयितासि। दिवु क्रीडाविजिगीषाव्यवहारद्युतिस्तुतिमोदमद-

स्वप्नकान्तिगतिषु । अथवा प्रसिद्धा द्यौर्ग्राह्या । कार्यकारण-योरभेदात्त्वमेव द्युलोकोसि । त्वमेव पृथिव्यसि । सर्वाधार-त्वात्पृथिवीत्वव्यपदेशः । पृथिव्यपि सर्वं धारयति । मातरिश्वनो वायोर्घर्मोसि तेजोसि । पवनाभावेन जीवस्थितिरनवस्थां भजेतेति । सत्यपि पवने यदि तत्र सर्वजीवकत्वं न भवेन्नैरर्थक्यमेव व्रजेत्सः । अतस्तस्य त्वमेव तेजोसि । घृ क्षरणदीप्त्योः । कार्यकारणयोरैक्यात्कार्यत्वेन निर्दिश्य कारणत्वेन निर्दिशति—विश्वधा असीति । विश्वं दधाति बिभर्ति यस्तथाभूतस्त्वमसि । ततः परमेण परा सर्वोत्कृष्टा मा मानं लक्ष्मीर्वा यस्य तत्परमम् । अथवा पातीति पम् । रमत इति रमयतीति वा रमम् । पं चादौ रमं चेति परमम् । रक्षकमानन्दप्रदं च । तेन तथाभूतेन धाम्ना तेजसा दृंहस्व वर्धयस्वास्मानुपासकान् । अन्तर्भावितण्यर्थः । दृहि वृद्धौ । किं च मा ह्वाः कुटिलो मा भूरस्मासु । ह्वृ कौटिल्ये । कौटिल्यमत्र रोष औदासीन्यं वा । रुष्ट उदासीनो वा मा भूः । किं च ते, तवायं यज्ञपतिरुपासको मा ह्वार्षीत्, कौटिल्यं त्वदुपासनायामौदासीन्यं वा मा भजेदिति ॥ २ ॥

भावार्थ—उपासक परमेश्वरसे प्रार्थना करता है कि हे परमेश्वर, तू ही जीवोंका पालनकर्ता है, तू ही आनन्ददाता है । अथवा द्यौः शब्दसे प्रसिद्ध द्युलोकका ग्रहण यहां करना चाहिये । अतः हे ईश्वर, कार्य-कारणके अभेदसे तुम ही द्युलोक हो । तुम ही पृथिवी हो । वायुका तेज भी तुम ही हो । पवन न हो तो जीवोंकी स्थिति ही असम्भव हो जाय ।

पवन हो भी परन्तु यदि उसमें सर्वजीवकत्व न हो तो निरर्थक ही हो जाय। अतः तुम ही उसके तेज हो। विश्वके पालन-कर्त्ता भी तुम ही हो। अतः सबके रक्षक और मानप्रद भी तुम ही हो। हम उपासकोंको तुम वृद्धिप्रदान करो। हमपर रोष और उदासीनता प्रकट न करो। किं च तुम्हारे उपासक हम भी कुटिलता अथवा तुम्हारी उपासनामें उदासीनता धारण न करें॥ २॥

वसोः पवित्रमसि शतधारं वसोः पवित्रमसि सहस्रधारम्। देवस्त्वा सविता पुनातु वसोः पवित्रेण शतधारेण सुप्वा कामधुक्षः॥३॥

परमेष्ठी प्रजापतिर्ऋषिः। भुरिग् जगती छन्दः।

हे परमेश्वर, त्वं पवित्रमसि जीवानां पावनकर्तासि। कीदृशस्त्वम्? शतधारं शतानि धारा धारणानि धारणप्रकारा यस्य तथाविधोसि। शतशब्दोत्र बहुत्वोपलक्षकः। बहूनां बहुभिः प्रकारैस्त्वं रक्षां विदधासीति यावत्। न केवलं त्वं शतधारोसि सहस्रधारं सहस्रधारोप्यसि। शतसहस्रशब्दावानन्त्यवाचकौ। यद्येवं तर्हि शतशब्देनैवानन्त्यनिर्वाहे सहस्रशब्दस्य वैयर्थ्यं दुष्परिहरं चेत्, तर्हि धारेति वाङ्नाम (निघ० १।११।२)। वाक्छब्देन तत्कार्य उपदेशोत्र गृह्यते। सहस्रोपदेशकर्ता चासि। अथवा हस्रा प्रसन्ना धारा वाक् हस्रधारा। हस्रधारया सहितः सहस्रधारः। प्रसन्नवागसीति यावत्। अपरोक्षेणोक्त्वा परोक्षेणाह-देवो दिव्यगुणविशिष्टः सर्वापेक्षितवस्तुप्रदाता वा सविता

सर्वजगदुत्पादयिता स परमात्मा यतो वसोर्जीवस्य कामधुक्षः सर्वाभिलाषसन्तर्पकोस्ति ततस्त्वां जीवं तच्छरणागतं पवित्रेण वज्रादपि रक्षकेण सुप्वा, सुष्ठुपावनशक्त्या पुनातु, पवित्रं करोत्वित्याचार्योपदेशः ।। ३ ।।

भावार्थ—हे परमेश्वर, तू सर्व जीवोंको पवित्र करनेवाला है। जीवोंको धारण-पोषण करनेके तेरे प्रकार अनन्त हैं। इतना परमेश्वरको उद्देश्य बनाकर कहनेके पश्चात् आचार्य कहते हैं कि दिव्यगुणविशिष्ट वह परमात्मा सर्व जीवोंके मनोभिलाषको पूर्ण करता है। अतः उसके शरणमें आये हुए हे जीव तुझे भी, वज्रप्रहारसे भी बचानेवाला वह अपनी पावन-शक्तिसे पवित्र करे—रक्षित रखे। जीवोंको पवित्र करना ही उनकी रक्षा करना है अथवा जीवोंकी रक्षा ही उन्हें पवित्र करना है ।। ३ ।।

सा विश्वायुः सा विश्वकर्मा सा विश्वधायाः। इन्द्रस्य त्वा भाग ँ सोमेनातनच्मि विष्णो हव्यं रक्ष ॥४॥

परमेष्ठी प्रजापतिर्ऋषिः। अनुष्टुप् छन्दः।

परमात्मा तु न पुमान्न स्त्री न क्लीब इति। लिङ्गनिर्देशस्तु शब्दस्वरूपमनुधावति। ब्रह्मेत्युक्ते तदिति, परमेश्वर इत्युक्ते स इति, परमेश्वरेत्युक्ते सेति च। अत्र निर्लिङ्गस्य ब्रह्मणो निर्देशः सेतिपदेन स्त्रीत्वबोधकेन। सा स परमेश्वरो विश्वायुर्विश्वान्यायूंषि यस्य तथाभूतः। आयुर्मर्यादाशून्यः स इति भावः। अथवा विश्वान् पदार्थजातान् अयते व्याप्नोतीति विश्वायुः,

सर्वव्यापक इति भावः । सा स विश्वकर्मा विश्वान्येव कर्माणि यस्य तथाभूतः । न हि तस्य किञ्चिदकार्यं विद्यते । सर्वसामर्थ्यवानित्यर्थः । सा स हि विश्वधाया विश्वधाता, विश्वपोषणकर्ता । विश्वं दधातीति विश्वधायः । असुन् प्रत्ययो णिच्च । णित्वाद्युक् । ईदृशस्येन्द्रस्य, सर्वसामर्थ्ययुक्तस्य परमात्मनो भागं रक्षणीयम् । भागो हि संरक्ष्यो भवति । त्वा त्वां जीवमुपासकम् । सोमेन शान्त्या । आतनच्मि तञ्चामि गमयामीत्यर्थः । तञ्चु गत्यर्थः । विकरणव्यत्ययः । इत्याचार्योपदेशः । ततः परं परमदयाध्यक्षः श्रीगुरुः सर्वव्यापकं परमात्मानं प्रार्थयते— विष्णो ! सर्वव्यापनशील ! हव्यमस्माभिर्देयं, दीयमानमिति भावः । शिष्यमिति शेषः । रक्ष, पालय, ज्ञानमानादिभिः संवर्धय । महती हि दया शिष्ये प्रदर्शिता भवत्याचार्येण ॥४॥

भावार्थ—वह परमेश्वर आयुकी मर्यादासे रहित है अर्थात् नित्य है । अथवा सर्वपदार्थोंमें व्याप्त होकर रहनेवाला है । उसके लिए कोई भी कार्य अकार्य नहीं है क्योंकि वह सर्वशक्तिमान् है । वह समस्त जगत्का पोषणकर्ता है । हे जीव, ऐसा वह परमात्मा तेरा रक्षक है । उसीकी ओर मैं तुझे प्रेरित करता हूँ । श्री गुरु अपने शिष्यको इतना कहकर परमेश्वरसे प्रार्थना करते हैं—हे सर्वव्यापक मैं इस शिष्यको आपकी सेवामें अर्पित करता हूँ, आप ज्ञान, मान आदिसे इसका संवर्धन करें ॥ ४ ॥

अग्ने व्रतपते व्रतं चरिष्यामि तच्छकेयं तन्मे राध्यताम् । इदमहमनृतात्सत्यमुपैमि ॥५॥

परमेष्ठी प्रजापतिर्ऋषिः । आर्ची त्रिष्टुप् छन्दः ।

हे व्रतपते व्रतानां संकल्पानां रक्षक ! अग्ने सर्वव्यापक परमात्मन् । अञ्चति सर्वत्र गच्छति सर्वं व्याप्नोतीत्यग्निः । तत्सम्बुद्धौ । व्रतं कर्माचार्यानुज्ञातं लोकशङ्करम् । व्रतमिति कर्मनाम (निघ० २।१।७) । "व्रतमिति कर्मनाम वृणोतीति सतः । इदमपीतरद् व्रतमेतस्मादेव निवृत्तिकर्म वारयतीति सतः । अन्नमपि व्रतमुच्यते यदावृणोति शरीरम्" (नि० २।१३) । चरिष्याम्याचरिष्यामि । तद्व्रतमनुष्ठातुमिति शेषः । शकेयं शक्नुयाम् । प्रार्थनायां लिङ् । पुनः प्रार्थयते—तन्मे मम कर्म राध्यतां सिद्धिं प्राप्नुयात् । राध्यतामिति कर्मकर्तरि प्रयोगः । आत्मनः शक्तिमल्पशक्तिं वा विचार्य पुनः प्रार्थयते कर्मकर्ता—इदमहमयमहमनृतादनृतं मायिकं परिग्रहं परित्यज्य सात्त्विकेन कर्मणा द्वारा सत्यं त्वां परमात्मानम् अथवा सन्तं पदार्थं, न त्वसन्तम्, आययति प्रापयतीति सत्यम् । "···पदेभ्यः पदेतरार्द्धान् सञ्चस्कार शाकटायनः—एतेः कारितं च यकारादिं चान्तःकरणमस्तेः शुद्धं च सकारादिं च" (नि० १।१३) । "सत्यं कस्मात् ? सत्सु तायते सत्प्रभवं भवतीति वा" (नि० ३।१३) । उपैम्युपगच्छामि । एतेन परमेश्वरप्रापककर्मप्रवृत्तिः प्रदर्शिता भवति । अनृतं हि लौकिकं निन्द्यं कर्म । तत्परित्यज्यैव सत्यदर्शनं स्यादिति ॥५॥

भावार्थ—हे सर्वसत्यसंकल्पोंके रक्षक सर्वव्यापक परमेश्वर मैं अपने आचार्यकी आज्ञाके अनुसार सत्कर्म करूंगा । उस कर्मके अनुष्ठानमें मैं सिद्धि प्राप्त करूं, ऐसा आप आशी-

र्वाद दें। जीव अपनी अल्पशक्तिमत्ताका विचार करके पुन: प्रार्थना करता है कि मैं मायिक सांसारिक-सत्य-मिथ्यायुक्त परिग्रहका त्याग करके सात्विक-कर्मद्वारा सत्यस्वरूप आपको प्राप्त करूं, ऐसी कृपा करें ॥ ५ ॥

कस्त्वा युनक्ति स त्वा युनक्ति कस्मै त्वा युनक्ति तस्मै त्वा युनक्ति। कर्मणे वां वेषाय वाम् ॥६॥

परमेष्ठी प्रजापतिर्ऋषिः। आर्ची पङ्क्तिश्छन्दः।

कस्त्वा त्वां युनक्ति योजयति प्रेरयतीति गुरुः शिष्यं पृच्छति। अनुत्तरं तं शिष्यं गुरुरेवोपदिशति—स सर्वनियोजकः परमात्मा त्वा युनक्ति प्रेरयति। कस्मै प्रयोजनाय त्वा त्वां युनक्ति योजयतीति प्रश्नमुत्थाप्याचार्यः स्वयमेवोत्तरयति—तस्मै परमात्मने। तादर्थ्ये चतुर्थी। परमात्मप्राप्त्यर्थमेव। परमात्मा त्वां शुभे कर्मणि युनक्ति योजयति नियोजयति वा। इतः पर्यन्तं सर्वत्र त्वेत्येकवचनान्तप्रयोगः। अन्तिमे चरणे वामिति द्विवचनान्तप्रयोगः। तत्र वामित्यस्यावामित्यर्थः। श्रौत आकारलोपः। यथा त्मना आत्मनेत्यर्थः। कर्तृविषयकः प्रश्नः प्रथमः। प्रयोजनविषयकः प्रश्नो द्वितीयः। किमर्थं नियोग इति कारणं तु नोक्तमद्यावधि। अतस्तं कारण-प्रश्नं मनसि निधायोत्तरयति कर्मणे सत्कर्मणे इत्यर्थः। कर्म द्विधैव सत्कर्म विकर्म चेति। न हि विकर्मप्रवृत्तये पर-मात्मा कश्चिच्चोदयति। स्वभावविरुद्धत्वात्। अतः कर्मणे इत्यस्य सत्कर्मणे इत्येवार्थः। अपरं चापि प्रयोजनम्। किं तत्? वेषः। कंचायमर्थं वेषशब्दो वदति? कर्मेति। तथा

हि वेष इति कर्मनाम (निघ० २।१।४।) कर्म तु पूर्वमुक्तम् । सत्यमुक्तम् । शब्दान्तरेण कर्मस्वरूपं कर्मस्वभावं वा निर्विवक्षति। किं तत् ? यत्कर्म सर्वं जगद्वेवेष्टि व्याप्नोति तत्कर्मात्र ग्राह्यम् । न हि वेदः केवलं वैयक्तिकोपकरणमेवो-पदिशति सार्वजनीनमुपकारमपि स स्वदृशो न दवयति । येन कर्मणा सर्वषामुपकारः स्यात्तस्मै कर्मण आवां गुरुशिष्या-वुपदिशति महोपदेशकः कारुणिकः परमेश्वरः । एवं च सामान्यकर्मण्यपि स नियोजयत्यावां लोकोपकारकर्मण्यपि स नियोजयत्यावामिति भावः ॥ ६ ॥

भावार्थ–गुरु शिष्यसे पूछता है कि शुभ कर्मोंमें तुझे कौन प्रवृत्त करता है ? शिष्य जब उत्तर नहीं दे सकता है तब स्वयं श्रीगुरु उपदेश करते हैं कि सर्वप्रेरक परमात्मा ही तुझे शुभ कर्मोंमें प्रवृत्त करता है। पुनः आचार्य द्वितीय प्रश्न उपस्थित करते हैं-वह परमेश्वर तुझे सत्कर्मोंमें किस प्रयो-जनसिद्धिके लिये नियुक्त करता है ? पुनः आचार्य स्वयम् उत्तर देते हैं—परमात्माकी प्राप्तिके लिये ही परमात्मा तुझे सत्कर्मोंमें प्रवृत्त करता है । अब तक यह नहीं पूछा गया है कि परमात्मा तुझे सत्कर्मोंमें क्यों नियुक्त करता है। अतः इसी "क्यों" को मनमें रखकर आचार्य कहते हैं–सत्कर्म-के लिये ही तुझे परमेश्वर प्रेरणा करता है। सत्कर्म और विकर्म, ये दो प्रकारके ही कर्म होते हैं। परमेश्वर विकर्ममें किसीको प्रवृत्त नहीं करता । अतः सत्कर्मके लिये ही परमेश्वर जीवोंको प्रेरणा देता रहता है। एक दूसरा भी उस 'क्यों"

का उत्तर है। वह क्या है? वेष। वेषका अर्थ है कर्म। यद्यपि सत्कर्म और असत्कर्मके निर्देश हो जानेसे पुनः कर्मके अनुसन्धानकी आवश्यकता नहीं रह जाती तथापि यहां वैयक्तिक कर्मका अनुसन्धान न करके सार्वजनीन कर्मका अनुसन्धान किया गया है और कहा गया है कि प्राणिमात्रके उपकारके लिये वह ईश्वर हम दोनों, गुरु-शिष्यको नियुक्त करता है, प्रेरणा देता है। तात्पर्य यह है कि सामान्य स्व-हितकारक कर्मोंके लिये भी और परोपकारक कर्मोंके लिये भी वह परमात्मा ही हमें प्रेरित करता रहता है॥ ६॥

प्रत्युष्ट ँ रक्षः प्रत्युष्टा अरातयो निष्टप्तं ँ रक्षो निष्टप्ता अरातयः। उर्वन्तरिक्षमन्वेमि॥७॥

परमेष्ठी प्रजापतिर्ऋषिः। प्राजापत्या जगती छन्दः।

सतां महापुरुषाणां कार्यक्रमं निर्दिशति। कश्चिन्महापुरुषो जनतां श्रावयति—प्रति प्रतिकूलो रक्षः सत्कार्यनिहन्तृ-समुदाय उष्टमुष्टो दग्धः। उष दाहे। प्रत्युष्टा अरातयः शत्रवः परोपकारकर्मण्यदानप्रवृत्तिका वा। तेन च प्रतिकूला राष्ट्रस्योष्टा दग्धाः। दाहो निवारणमात्रं, न प्रज्वालनम्। निष्टप्तं नितरां सन्तप्तं सन्तापितम्। णिजर्थोन्तर्निहितः। रक्षो राक्षसः सत्कर्मविघातकः सज्जनसंहारको वा। निष्टप्तं नितरां तापितः। रक्षःशब्दो द्व्यर्थकः। दुर्जनार्थकः सज्जनार्थकश्च। रक्ष्यतेस्मादिति व्युत्पत्तिलभ्यः प्रथमोर्थः। रक्षति सर्वानितिव्युत्पत्तिलभ्यो द्वितीयोर्थः। अत्र प्रथमोर्थोपेक्षितः निष्टप्ता नितरां तापिता अरातयः, शत्रवो राष्ट्रशत्रवोदत्त-

दानाः । सर्वथा प्रजाद्रुहः समाप्ता इति भावः । दार्ढ्य द्योतनार्था द्विरुक्तिः । समाप्तं मदीयं कार्यम् । इदानीं च उरु, बृहद् व्यापकम् अन्तरिक्षम्, अन्तरीक्षत इत्यन्तरिक्षम् । सर्वान्तर्द्रष्टृ । ह्रस्वत्वं छान्दसम् । ब्रह्मेति तात्पर्यम् । अन्वेम्यनुसरामि । ब्रह्मानुभवं करोमीतिभावः । राजधर्मोत्र निरूपितः । दुर्जनानां राष्ट्रद्रुहां संहारकर्म समाप्य तेषां वृत्तीर्वा परिवर्त्य परमेश्वरोपासने राज्ञा स्थातव्यमितिभावः । अथवोर्वन्तरिक्षमन्वेमीत्यस्य परमात्मानमनुसरामीत्यर्थः । यथा परमात्मा दुष्टप्रवृत्तिनिवृत्तौ सदा सावधानस्तथैवाहमपीतिभावः ॥ ७ ॥

भावार्थ—इस मन्त्रमें सत्पुरुषोंके कार्यक्रमका निर्देश हुआ है। कोई महापुरुष जनसमुदायसे कहता है कि सत्कर्मोंको नष्ट करनेवालोंका मैंने पराभव किया है। शत्रुओंका, अथवा जिनमें परोपकारमें योगदानकी प्रवृत्ति नहीं है उनका अर्थात् जो राष्ट्रके प्रतिकूल आचरण करनेवाले हैं उन्हें भी मैंने पराभूत किया है। सत्कर्मोंका अथवा सत्पुरुषोंका संहार करनेवालोंको भी मैंने दूर हटाया है। राष्ट्रके शत्रुओंको भी मैंने नष्ट किया है। अब मेरा लौकिक कार्य समाप्त हुआ है। अतः अब तो सर्वान्तर्द्रष्टा परमात्माका मैं स्मरण-मनन-निदिध्यासन करनेमें प्रवृत्त हो रहा हूँ ॥ ७ ॥

धूरसि धूर्व धूर्वन्तं धूर्व तं योस्मान्धूर्वति तं धूर्व यं वयं धूर्वामः। देवानामसि वह्नितम ꣳ सस्नितमं पप्रितमं जुष्टतमं देवहूतमम् ॥८॥

परमेष्ठी प्रजापतिर्ऋषिः । अतिजगती छन्दः ।

हे परमेश्वर, त्वं धूरसि विघ्नानां सत्कर्मसु निवर्तकोसि । धुर्वी हिंसायाम् । अतो धूर्व हिन्धि । कम् ? धूर्वन्तं हिंसन्तं प्रजाः । तदेव स्पष्टयति—तं धूर्व यं वयं धूर्वामो नाशयामः । प्रार्थनामात्रमेतत् । नायं नियमो भवितुं शक्नोति यमुपासको धूर्वेत्परमात्मापि तं धूर्वेत् । दुर्जनानां दुर्वृत्तीनां वा संहारे परमात्मापि साहाय्यं कुर्यादिति संभवदुक्तिरेषा । कुतो वयमेतत्प्रार्थयामह इत्याह—त्वं देवानां विदुषां त्वत्स्तोतॄणां वा वह्नितममसि वोढृतमोसि । वहतीति वह्निः । सर्वान् देवान् परोपकृतिनिरतांस्त्वमतिशयेन वहसीति । सस्नितमं पवित्रतमः । ष्णा शौचे । असि । अथवा सर्वव्यापकोसि । ष्णै वेष्टने । भौवादिको धातुः । शोभायामप्ययमित्येके । तथा च रमणीयतमोसि । पप्रितमं सर्वेच्छापूरकोसि । प्रा पूरणे । जुष्टतमं सर्वैः सेविततमोसि । प्रीततमोसि वा । जुष्टी प्रीतिसेवनयोः । देवहूतमं देवानां विदुषां महात्मनामतिशयेनाह्वातासि । त्वयि सर्वे गुणा विद्यन्ते । सर्वगुणे च प्रार्थना युज्यत एवेति ॥ ८ ॥

भावार्थ—हे परमेश्वर, तू सत्कर्मोंमें आनेवाले विघ्नोंका निवारक है । प्रजाविरोधियोंका तू नाश कर । जिसका हम नाश करें, तू भी हे परमेश्वर उसका नाश कर । तू विद्वानों तथा तुम्हारी स्तुति करनेवालोंका पालक है । परोपकारी जनोंका भी तू पालक है । तू परमपवित्र है, सर्वव्यापक है, सर्व सज्जनोंकी इच्छाका सम्पादक है, सब विद्वानों और

तुम्हारी स्तुति करनेवालोंका पालक है। परोपकारी जनोंका भी तू पालक है। तू परमपवित्र है, सर्वव्यापक है, सर्व सज्जनोंकी इच्छाका सम्पादक है, सब विद्वानों और भक्तोंसे तू सेवित है, एवं विद्वानों और महात्माओंका तू आह्वान-कर्ता है अर्थात् उन्हें तू अपने समीप बुलाता है और रखता है ॥८॥

अह्रुतमसि हविर्धानं दृꣳहस्व मा ह्वर्मा ते यज्ञपतिर्ह्वार्षीत्। विष्णुस्त्वाक्रमतामुरु वातायापहतꣳ रक्षो यच्छन्तां पञ्च ॥९॥

ऋषिः परमेष्ठी प्रजापतिः। निचृत् त्रिष्टुप् छन्दः।

आचार्यः शिष्यमुपदिशति—अह्रुतमसि—अकुटिलोसि। दृढो-सीति शुद्धोसीति वा तात्पर्यम्। ह्वृ कौटिल्ये। क्त प्रत्ययः। ह्रु आदेशश्च। हविर्धानं शरीरम्। हु दानादनयोः। हविषोन्नस्य धानं धारकम्। तच्च शरीरमेव। तद् दृंहस्व दृढं कुरु। मा ह्वस्त्वं कुटिलो वक्रो नष्टो वा मा भूः। यज्ञपतिः परमात्मा। यज देव-पूजा-संगतिकरण-दानेषु। देवार्थकाद् यजधातोर्यज्ञ इति रूपम्। देवार्थास्तु क्रीडा-विजिगीषा-व्यवहार-द्युति-स्तुति-मोद-मद-कान्त्यादयः। ते तुभ्यम्। मा ह्वार्षीत् कुटिलो मा भूत्। यदि त्वं कुटिलो न भविष्यसि, अवश्यं परमात्मापि त्वदर्थं कुटिलो न भविष्यति। विष्णुः स च व्यापकः परमात्मा। वेवेष्टि सर्वमिति विष्णुः। विष्लृ व्याप्तौ। विशति सर्वमिति वा। विश प्रवेशने। त्वा त्वामुपासकम्। अकुटिलमाक्रमतां समन्तादागच्छतु

प्राप्नोतु। क्रमु पादविक्षेपे। पुनः शिष्यमुपदिशति-त्वं वाताय प्राप्ताय परमेश्वराय। वा गतिगन्धनयोः। उरु आच्छादको भव। ऊर्णुञ् आच्छादने। ऊर्णोत्याच्छादयति स्वाभ्यन्तरीकरोतीत्युरुः। स्वान्तरे कुरु तमितिभावः। क्लीबता त्वार्षी। तेन रक्षः पापं विघ्नो वापहतं निहतं दूरीकृतं वा भविष्यति। पञ्च ज्ञानेन्द्रियाणि पञ्च कर्मेन्द्रियाणि वा। पचि विस्तारे। इन्द्रियाणि प्रायेण विस्तृतान्येव भवन्ति। यच्छन्तामुपरमन्तु। उपरतेषु ज्ञानेन्द्रियेषु कर्मेन्द्रियाणि स्वयमेवोपरतानि भवन्ति। इदं कारणनिरूपणम्। इन्द्रियोपरतिरेव ब्रह्मप्राप्तिसाधनम्। ब्रह्म चानन्दः। अयमत्र क्रमोवगन्तव्यः-पूर्वमिन्द्रियाणां नियमनं ततो रक्षउपहतिस्ततोभ्यन्तरीकरणं परमेश्वरस्य ततश्च विष्णुक्रमणम् ॥६॥

भावार्थ-आचार्य शिष्यको उपदेश देते हैं कि तू अकुटिल बन अथवा अपने शुभ विचारोंमें दृढ बन। अपने शरीरको दृढ बना। तू कभी कुटिल नहीं बन। परमात्मा भी तब तेरे लिये कुटिल नहीं बनेगा। वह व्यापक परमात्मा तुझे प्राप्त हो। परमात्मा जब तुझे प्राप्त हो तब तू उसे अपने अन्तःकरण में स्थापित करना। इससे तेरे सब दोष दूर हो जायेंगे। कर्मेन्द्रिय अथवा ज्ञानेन्द्रिय तेरे शान्त बनेंगे। ज्ञानेन्द्रियोंके शान्त होने पर कर्मेन्द्रिय स्वयमेव शान्त हो जाते हैं। इन्द्रियोंकी शान्ति ही ब्रह्म-प्राप्तिका साधन है। यहां ऐसा क्रम समझना चाहिये-प्रथम इन्द्रियों का नियमन तब पापापोहन तब परमात्मा का अभ्यन्तरी-करण और उसके पश्चात् विष्णुक्रमण ॥६॥

देवस्य त्वा सवितुः प्रसवेश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्याम्। अग्नये जुष्टं गृह्णाम्यग्नीषोमाभ्यां जुष्टं गृह्णामि ॥१०॥

परमेष्ठी प्रजापतिर्ऋषिः। भुरिग् बृहती छन्दः।

सवितुः सूर्यस्य। देवस्य दीव्यन्ति क्रीडन्ति लोका यस्मिन्नति तस्य देवस्य चन्द्रस्य च। प्रसव उत्पादे सूर्याचन्द्रमसोरुदयकाले चेत्यर्थः। अश्विनोः सूर्याचन्द्रमसोर्बाहुभ्यां विलोडनाभ्याम्। बाधृ विलोडने। दिवा सूर्यो विलोडयति नक्तं च चन्द्रमा इति बाहुभ्यामिति द्विवचनम्। पूष्णः सूर्यस्य च हस्ताभ्यां किरणाभ्याम्। प्रातःकालीनः किरणराशिः सायन्तनश्च रश्मिराशिर्दिवाकरस्य जन्तूनामारोग्यप्रदो भवतीति समुह्य द्विवचनम्। किरणैरिति तात्पर्यम्। जुष्टं सेवितं प्रसादितम्। तुरेवकारार्थः। पदार्थजातं च नीरोगं निर्विकारम् एव। अग्नये जाठराग्नय इति भावः। जाठराग्निवृद्ध्यर्थमिति तात्पर्यम्। आ गृह्णाम्युदरसात्करोमि। एवमग्नीषोमाभ्याम्। अग्निशब्देनौष्ण्यं ग्राह्यं सोमशब्देन च शान्तिर्ग्राह्या शैत्यं वा ग्राह्यम्। रात्रौ सूर्याभावेऽग्निः प्रतिनिधिरिति मत्वाह-अग्निना सोमेन च जुष्टं सेवितं पदार्थजातं गृह्णामि निषेव इति तात्पर्यम्। अनेन मन्त्रेण स्वास्थ्यरहस्यं प्रतिबोधितम्॥१०॥

भावार्थ—सूर्य और चन्द्रके उदय-कालमें इन दोनोंके विलोडनसे तथा सूर्यके प्रातःकालीन और सायङ्कालीन किरणोंसे प्रसादित सब ही पदार्थोंको जठरानलकी वृद्धिके

लिये अपने उदरमें स्थापित करता हूं। एवम् उष्णता और शैत्यसे सेवित सभी पदार्थोंका मैं सेवन करता हूं। इस मन्त्र से कुछ स्वास्थ्य-सम्बन्धी नियमोंका संकेत किया गया है। नूतन समागत ब्रह्मचारीको आश्रमाधिष्ठाता आचार्य उपदेश करता है कि उदीयमान सूर्यकी प्रातःकालीन तथा सायङ्कालीन किरणोंसे मनुष्य भी निर्विकार बनते हैं और अन्य पदार्थ भी। ऐसे निर्विकार पदार्थोंको ही उदरसात् करना चाहिये। एवम् रात्रिमें सूर्याभावमें सूर्यका प्रतिनिधि अग्नि होता है। अतः यह भी कहा गया कि अग्नि और चन्द्रसे सेवित पदार्थोंका ही सेवन करना चाहिये। अर्थात् परिपक्व भोजन और चन्द्रमाके अमृत-समान किरणोंसे निषेवित पदार्थ शरीर को स्वास्थ्य प्रदान करते हैं॥१०॥

भूताय त्वा नारातये स्वरभि विख्येषं दृ ँ हन्तां दुर्याः पृथिव्याम्। उर्वन्तरिक्षमन्वेमि पृथिव्यास्त्वा नाभौ सादयाम्यदित्या उपस्थेऽग्ने हव्य ँ रक्ष॥११॥

ऋषिः परमेष्ठी प्रजापतिः। स्वराड् जगती छन्दः।

उपासको वदति—हे परमेश्वर! भूताय मत्सत्तास्थित्यर्थम्। त्वा त्वां प्रार्थये। अरातये न, विनाशाय न। अरमततीत्यरातिः। सार्वदिकगमनमरातिः। सा हि विनाशरूपा। रलयोरैक्यादर-मित्यस्यालमित्यर्थः। सत्तावान्सन् स्वर् आत्यन्तिकं सुखम्। अभिविख्येषमभितः सर्वतो विशेषेण ख्यायां प्राप्नुयामित्यर्थः। ख्या प्रकथने। योग्यत्वादत्र प्राप्त्यर्थकः। दुर्या दुःखं यापयन्ति

प्रोषयन्तीति दुर्या दुर्बुद्धयः । पृथिव्यां दृंहन्तां वर्धन्ताम् । दृहि वृद्धौ । छान्दसः पदविपर्ययः । अथवा दुःखं यापयन्तीति दुर्याः पापानि तानि पृथिव्यामेव तिष्ठन्तु, गच्छामि चाहं प्रकाशलोकम् । तदेव पुनः श्रावयति—उरु विशालं व्यापकम् । अन्तरिक्षमन्तरीक्षणशीलं परमात्मानम् । अन्वेम्यनुगच्छामि । त्वा त्वां युष्मानित्यर्थः । दुर्याः पापानि । पृथिव्याः पृथिवीरूपे । नाभौ बन्धने । पृथिव्या इति षष्ठी सप्तम्यर्थिका । णह् बन्धने इञ् । सादयामि नाशयामि । षद्लृ विशरणगत्यवसादनेषु । हे अग्ने परमात्मन्, दुःखितोहं दुःखान्मुक्तिं प्राप्य उर्वन्तरिक्षं गच्छामि । परमदित्या भूमेरुपस्थे क्रोडे वर्तमानम् । हव्यं जीवम् । हु दानादनयोः । हूयतेद्यते कालेनेति हव्यम् । रक्ष पालय । एकवचनमविवक्षितम् । पृथिवीस्थान्सर्वानपि जीवान्, हे परमेश्वर, अन्तरिक्ष-नयनेन संरक्षेति प्रार्थना ॥११॥

भावार्थ–उपासक कहता है—हे परमेश्वर ! मैं अपनी स्थितिके लिये आपसे प्रार्थना करता हूँ, विनाशके लिये नहीं । सत्तावान् रहकर मैं नित्य सुखका अनुभव करूं । दुर्बुद्धियां पृथिवीपर ही फूलें-फलें अथवा पाप पृथिवीपर ही रहें और मैं तो प्रकाश-लोकमें जाता हूं । मैं व्यापक आपको प्राप्त करूं और सब दुःख पृथिवी-लोकमें ही रहें । हे परमेश्वर ! मैं दुःखोंसे मुक्त होकर महान् अन्तरिक्षमें जाता हूँ । पृथिवीपर रहे हुए जीवोंको भी आप उसी अन्तरिक्ष लोकमें ले जाकर उनकी रक्षा करें ॥११॥

पवित्रे स्थो वैष्णव्यौ सवितुर्वः प्रसव उत्पुनाम्य-च्छिद्रेण पवित्रेण सूर्यस्य रश्मिभिः। देवीरापो अग्रे-गुवो अग्रेपुवोऽग्र इममद्य यज्ञं नयताग्रे यज्ञपतिꣳ सुधातुं यज्ञपतिं देवयुवम् ॥१२॥

ऋषिः परमेष्ठी प्रजापतिः। भुरिगत्यष्टिश्छन्दः।

दम्पती उद्दिश्योपदिशति—वैष्णव्यौ युवाम्। वैष्णवाविति प्राप्ते स्त्रीत्वमार्षम्। युवां वैष्णवौ विष्णुभक्तौ परमात्मोपासकाविति पवित्रे मार्गे स्थः। अतः सवितुर्जगदुत्पादकस्य परमात्मनः। प्रसवे पुत्रत्वे वर्तमानान्। वो युष्मान्। सूर्यस्य सर्वत्र सरणशीलस्य व्यापकस्येति भावः। अच्छिद्रेण दृढेन। पवित्रेण पावकबलेन। रश्मिभिः शक्तिभिर्व्याप्तिभिर्वा। अशूङ् व्याप्तौ। अश्नुवते सर्वमिति। अश्नोतेरशच [उ० ४।४६] इति मिप्रत्ययो रशादेशश्च। उत्पुनामि उत्कर्षेण पवित्रान् करोमि। आचार्योक्तिरियम्। आपो व्यापकः। देवीर्देवः। अग्रेगुवोग्रे शब्दकर उपदेष्टेत्यर्थः। गुङ् शब्दे। अग्रेपुवोग्रेग्रे पावयिता पवित्रकर्त्ता। सर्वत्र आप इतिप्रयोगवशाद् बहुवचनम्। लिङ्गमचिन्त्यम्। ब्रह्मणः सर्वलिङ्गत्वादलिङ्गत्वाच्च। अग्रे सर्वोच्चपदे। इममुपासकम्। यज्ञं दिव्यस्थानं निर्दोषस्थानम्। नयत नयेतिभावः। कीदृशं यज्ञम्? यज्ञपतिं यज्ञानां पूज्यानां दुरितविरतानां पतिं रक्षकम्। सुधातुं शोभनतया शरणागतानां धारकम्। यज्ञपतिं दुरितविरतपतिम्। देवयुवं परमात्मसंगतं दिव्यधर्मसंगतं वा। यु मिश्रणामिश्रणयोः ॥१२॥

भावार्थ– इस मन्त्रमें दम्पतीको उद्देश्य बनाकर कहा गया है कि तुम दोनों ही विष्णु-भक्त हो–परमेश्वरके उपासक हो, अतः पवित्र मार्गमें हो। अतः तुम लोग परमात्माके पुत्र-समान हो। अतः मैं तुम दोनोंको परमात्माकी पवित्रकर्त्री शक्तिसे पवित्र करता हूँ। इतना आचार्यवचन है। पश्चात् आचार्य पुनः परमेश्वरसे प्रार्थना करता है कि इस उपासकको, हे परमेश्वर !, उस सर्वोच्च-पद में ले जाओ जहां धर्मात्माओं की रक्षा होती है। शरणागतोंका पालन होता है और जहां पवित्र धर्मका ही निवास है ।१२।

युष्मा इन्द्रो ऽवृणीत वृत्रतूर्ये यूयमिन्द्रम-वृणीध्वं वृत्रतूर्ये प्रोक्षिताः स्थ। अग्नये त्वा जुष्टं प्रोक्षाम्यग्नीषोमाभ्यां त्वा जुष्टं प्रोक्षामि। दैव्याय कर्मणे शुन्धध्वं देवयज्यायै यद्वोऽशुद्धाः पराजघ्नुरिदं वस्तच्छुन्धामि ॥१३॥

ऋषिः परमेष्ठी प्रजापतिः। निचृदुष्णिक् छन्दः।

आचार्य उपदेश्यानुपदिशति विलोडयति चाशीर्भिः। इन्द्रः परमात्मा सर्वैश्वर्ययुक्तः। युष्मानुपासकानवृणीत वृतवान् वृणोत्विति वा। कालोनपेक्ष्यः। यूयमुपासकाः। वृत्रतूर्ये पापविनाशकर्मणि। इन्द्रं परमात्मानम्। अवृणीध्वं वृणुध्वम्। यतो यूयं वृत्रतूर्ये पापविनाशकर्मणि प्रोक्षिताः स्थ सिक्ताः स्थ निरताः स्थ इत्यर्थः। यतो यूयं पापविनाशव्रतिनस्तेन पाप-नाशाय परमात्मानमेव सहायं वृणुध्वमित्यर्थः। आचार्यः पुनः

प्रातिस्विकरूपेण ब्रवीति—जुष्टं प्रीतिसम्पन्नं त्वा त्वामग्नये परमात्मने प्रोक्षामि परमात्मप्राप्त्यर्थं पापं विधूय शोधयामीत्यर्थः। उक्ष सेचने। न केवलमग्नय एव, अग्नीषोमाभ्यामग्नये चापि सोमाय चापि जुष्टं प्रीतिसम्पन्नं त्वां प्रोक्षामि। अग्निशब्देन परमात्मनस्तेजःस्वरूपता सोमशब्देन च शान्तस्वरूपताभिप्रेता। पुनः शिष्यसमूहमुद्दिश्य वदत्याचार्यः—दैव्याय देवाः पवित्रमनुष्याः। तत्सम्बन्धिने कर्मणे शुन्धध्वं शुद्धा भवत। देवयज्यायै विद्वत्सत्काराय च शुन्धध्वं शुद्धा भवत। यावन्न शुद्धिस्तावन्न स्याच्छुद्धे कर्मणि प्रवृत्तिः। यद्वे चाशुद्धाकृतयो वो युष्मान् पराजघ्नुः पराहतवत्यः, वो युष्माकं तदिदं ता अशुद्धाः कृतीः शुन्धामि पावयामीत्यर्थः। इत्याचार्यकृत्यम्।१३।

भावार्थ—आचार्य शिष्योंको उपदेश करते हैं—हे शिष्यो! परमेश्वरने तुम्हें स्वीकार किया है। तुम लोग भी परमात्मा को स्वीकार करो क्योंकि तुम लोग पाप कर्मोंके नाश और त्यागमें लगे हो। जो पापोंका त्याग करनेमें समर्थ है वही परमेश्वरकी ओर जाता है या जा सकता है। आचार्य पुनः एक-एक शिष्यसे कहते हैं कि प्रीति-सम्पन्न तुझे परमेश्वर-प्राप्तिके योग्य बनाता हूं। तेजःस्वरूप और शान्तस्वरूप परमेश्वरके लिये तुझे पवित्र बनाता हूं। पवित्र मनुष्योंके निमित्त कर्म करनेके लिये और विद्वानोंके सत्कारके लिये, हे शिष्यो! तुम पवित्र बनो॥१३॥

शर्मास्यवधूत ँ रक्षोवधूता अरातयोऽदित्यास्त्वगसि प्रति त्वादितिर्वेत्तु । अद्रिरसि वानस्पत्यो ग्रावासि पृथुबुध्नः प्रति त्वादित्यास्त्वग्वेत्तु ॥१४॥

ऋषिः परमेष्ठी प्रजापतिः । स्वराड् जगती छन्दः ।

पुनराचार्यः शिष्यमुपदिशति—रक्षः पापमवधूतं नष्टम् । अरातयः कामक्रोधादिशत्रवोवधूता नष्टाः । तस्मात्वं शर्मासि शिवस्वरूपोसि । इदानीं त्वमदित्या अखण्डस्य परमात्मनः । दोवखण्डने । त्वगसि संवृतोसि । परमात्मा तव रक्षकोस्तीतिभावः । अतस्त्वा त्वामदितिः परमात्मा प्रतिवेत्तु प्रतिजानातु स्वीयत्वेन स्वीकरोत्वितियावत् । यतस्त्वा परमात्मा स्वकीयत्वेन स्वीकरोत्यतस्त्वमद्रिरविनाश्यसि । दृ विदारणे । न विदीर्यत इत्यद्रिः । वानस्पत्योसि वनानां शब्दकारिणां त्वां प्रार्थयमानानामितिभावः । तेषां पतिर्वनस्पतिः । वनस्पतेरयं वानस्पत्यः । ग्रावासि गृणाति स्तौति परमात्मानमिति ग्रावा । गृणातिः स्तुतिकर्मेति निरुक्तम् [३।५] परमात्मस्तोतासि । पृथुबुध्नो बृहन्मूलः । बृहन् हि परमात्मा । स एव जीवस्य मूलम् । मूलं नादिकारणम् । निर्वाहकमिति । अत एव जीवानां न सादित्वम् । अतो हे शिष्य त्वा त्वाम् । अदित्या अविनाशिनः परमात्मनः । स्त्रीत्वमकिञ्चित्करम् । त्वक्संवृतिः । त्वच संवरणे । वेत्तु जानातु स्वीयत्वेन त्वामङ्गीकरोत्वित्याशयः ॥ १४ ॥

भावार्थ—आचार्य शिष्यको पुनः उपदेश करते हैं—कि तेरे पाप नष्ट हो गये, काम-क्रोधादि शत्रु भी नष्ट हो गये । अतः

तू शिवस्वरूप है। अब तू अखण्ड परमात्मासे सुरक्षित है। अतः परमात्मा तुझे अब सदा अपना ही मानते रहें। अबसे तू अविनाशी बन गया, भगवद्भक्त बन गया, परमेश्वर की स्तुति करनेवाला बन गया, परमात्मा ही तेरा मूल है। अतः हे शिष्य! परमात्माका सवरण तुझे स्वीयत्वेन स्वीकार करे॥

अग्नेस्तनूरसि वाचो विसर्जनं देववीतये त्वा गृह्णामि बृहद्ग्रावासि वानस्पत्यः स इदं देवेभ्यो हविः शमीष्व सुशमि शमीष्व। हविष्कृदेहि हविष्कृदेहि ॥१५॥

ऋषिः परमेष्ठी प्रजापतिः। निचृज्जगती छन्दः।

पुनराचार्यो ब्रह्मचारिणं शिष्यत्वेन स्वीकुर्वन्वदति-त्वमग्नेः परमात्मनस्तनूरसि शरीरमसि। वाचो विद्याया विसर्जनं त्यागाश्रयोसि। विद्यादानपात्रमसीतियावत्। वाक्छब्देन विद्या गृह्यते। विसर्जनशब्देनौचित्याद्दानाश्रयो गृह्यते। अतो देववीतये देवानां विदुषां तेजस्विनां वा वीतये कान्तये शोभायै। वी गतिव्याप्तिप्रजनकान्त्यसनखादनेषु। त्वा त्वां गृह्णामि। वेदाद्यध्यापनेन त्वां देवसदृशं कारयितुं शिष्यत्वेन गृह्णामीतिभावः। यतस्त्वं बृहद्ग्रावा बृहतां महतां विदुषां ग्रावासि स्तुत्योसि। गृणातेः क्वनिप्। गृणातिः स्तुतिकर्मेति निरुक्तम् (३।५)। वानस्पत्यो वनानां शब्दानामर्थह्रिदानां पतिः परमात्मा तत्सम्बन्ध्यसि। वन शब्दे। अथवा वन हिंसायाम्। वनति हिनस्ति दुष्टानिति वनः परमेश्वरः। पाति रक्षतीति पतिः। वनश्चासौ पतिश्च

वनस्पतिः । सुट् । तमर्हतीति वानस्पत्यः । परमेश्वरप्राप्तियोग्यश्चासीतिभावः । स त्वं मच्छिष्यत्वमुपेतः । देवेभ्यो विद्वद्भ्यः परमात्मस्तुति-कर्तृभ्यो वा मत्समीपस्थेभ्यो हविर्दत्तोसि : हूयते दीयत इति हविः । हु दानादनयोः । मदीया ये विद्वच्छिष्यास्तेषु सम्मेलितोसीतिभावः । शमीष्व शान्तिमत्र लभस्व । हे सुशमि सुशमिन्, शमीष्व शान्तिं लभस्व । द्विरुक्तिः शिष्यसन्तोषार्था गुरुसन्तोषातिशयद्योतनार्था वा । एहि मत्समीपे तिष्ठ वस । यतस्त्वं हविष्कृत् परमेश्वरप्रीत्यर्थं वेदार्थप्रीत्यर्थं वात्मानं जुहोषि । ब्रह्मचर्यधारण-गुरुशुश्रूषातपः-प्रभृतिरूपं हविष्कर्तासि । द्विरुक्तिरादरार्था । पितरौ सम्बन्धिनश्चान्यान्परित्यज्य वने कंचिदाचार्यं सम्प्राप्तानां शिष्याणां प्रीत्यर्थमाचार्यवचनमेतत् ॥ १५ ॥

भावार्थ—आचार्य ब्रह्मचारीको स्वीकार करते हुए कहता है कि हे ब्रह्मचारिन्, तू परमेश्वरका शरीर है। विद्यादानके लिये तू योग्य आश्रय है। अतः विद्वानोंकी शोभाके लिये अर्थात् वेदाध्ययन कराकर तुझे विद्वान् बनाकर विद्वानोंकी सख्या बढ़ानेके लिये तुझे स्वीकार करता हूँ। तू विद्वानों का स्तुत्य है। भविष्यमें भी स्तुत्य बनेगा। वेदपति परमात्मा का तू अब सम्बन्धी बना है अथवा अब तू परमेश्वर की प्राप्ति के योग्य बना है। मैंने आज तुझे अपने विद्वान् शिष्योंमें सम्मिलित किया है। यहां शान्तिलाभ कर। आ, मेरे पास निवास कर। परमेश्वरको प्रसन्न करनेके लिये अथवा वेदार्थके प्रेमसे तू अपनेको ब्रह्मचर्यरूप तप और गुरु-

शुश्रूषा रूप तपमें विलीन कर रहा है ॥१५॥

कुक्कुटोसि मधुजिह्व इषमूर्जमावद त्वया वय-ᳪ संघातᳪ संघातं जेष्म वर्षवृद्धमसि प्रति त्वा वर्षवृद्धं वेत्तु परापूतᳪ रक्षः परापूता अरातयः। अपहतᳪ रक्षो वायुर्वो विविनक्तु देवो वः सविता हिरण्यपाणिः प्रतिगृभ्णात्वच्छिद्रेण पाणिना ॥१६॥

ऋषिः परमेष्ठी प्रजापतिः। ब्राह्मी त्रिष्टुप् छन्दः।

आचार्यः शिष्यमनुगृह्णाति—त्वं कुगसि। कोकत आदत्ते ज्ञानमाचारं वेति कुक्। ज्ञानग्राहक आचारग्राहकश्चासि। कुटश्चासि। कुट छेदने। कुटति कोटयति वा छिनत्त्यज्ञानमिति कुटः। अज्ञानापसारकश्चासि। मधुजिह्वो मधुरवागप्यसि। अत इषं गतिमिच्छां वा सतीम्। ऊर्जं बलमाध्यात्मिकं शारीरिकं च। आवद आवदामि सन्दिशामि। वद सन्देशवचने। चौरादिको धातुः। पुरुषव्यत्ययः। किमावदामीति जिज्ञासाया-मुच्यते—त्वया गत्या सत्या चेच्छया वयं संघातं संघातं संगतिं संगतिं प्रत्येकं संगतिमित्यर्थः। जेष्म जयाम। हन धातुर्गत्यर्थ-कोत्र। हे शिष्य त्वं वर्षवृद्धं वर्षेण ज्ञानजलावसेचनेन वृद्धोसि वृद्धिमानसि वृद्धिमान् भविष्यसि वा। वर्षवृद्धं ज्ञानवृद्धं त्वा त्वां प्रतिवेत्तु जानातु विद्वत्समाज इति शेषः। रक्षस्ते वृद्धि-विनाशको विघ्नः परापूतं परापूतो निराकृतः। परेति विप-रीतार्थे। इह सम्यगर्थे। विघ्नस्य परापवनं तन्निवारणमेव। परापूता निराकृता अरातयः शत्रवो विघ्ना वा। अपहतं रक्षो

विघ्नो निवारित इत्येव तात्पर्यम् । वायुः परमात्मा । वा गतिगन्धनयोः । सततं वाति गच्छतीति वायुः । वो युष्मान् मच्छिष्यान् । पूर्वं त्वमित्याद्येकवचनम् । इह तु व इति बहुवचनं वेदस्य स्वतन्त्रत्वान्निरुह्यम् । विविनक्तु वो युष्मान् पृथक्करोतु मत्त इति भावः । मत्तः पृथग्भूय मच्छिष्याणां का गतिरित्याह– हिरण्यपाणिः । हिनोते रमतेश्चेतिधातुद्वयात् कन्यन् प्रत्ययो बाहुलकाच्च रूपसिद्धिः । एवं हिरण्यपाणिरित्यत्र गमनशीलो व्यापक इत्यर्थः । रमणशीलश्च पाणिर्व्यवहारो यस्य । पण व्यवहारे स्तुतौ च । एवंभूतः सविता जगदुत्पादकः परमेश्वरः। अच्छिद्रेण दृढेन पाणिना हस्तेन व्यवहारेण वा प्रतिगृभ्णातु प्रतिगृह्णातु स्वीकरोत्वस्मानिति शेषः ॥१६॥

भावार्थ–आचार्य शिष्य को स्वीकार करके कहता है कि हे शिष्य ! तू ज्ञान और आचारका ग्रहण करनेवाला है। अज्ञानको तू दूर करनेवाला है अर्थात् दूर करनेकी इच्छा-वाला है । मधुरभाषी भी तू है । अतः मैं तुझे आध्यात्मिक और शारीरिक बल भी देता हूं । तुझे संदेश भी देता हूँ कि तू और मैं पवित्र आचार और पवित्र विचारसे संघातको-जनसमूह को जीत लें-वशमें कर लें । हे शिष्य, तू ज्ञान-जलके सेचनसे वृद्धिमान् है। तू ज्ञानवृद्ध भी है, ऐसा विद्वत्समाज तुझे जानेगा। तेरी उन्नति का बाधक दूर हो गया , शत्रु और विघ्न सभी दूर हो गये । ईश्वर तुझे मुझसे पृथक् करे । अर्थात् सर्वविद्या-सम्पन्न होकर तू घर जा । व्यापक और रमणशील परमेश्वर अपने दृढ हाथों से तुझे और हमें स्वीकार करें ॥१६॥

धृष्टिरस्यपाग्ने अग्निमामादं जहि निष्क्रव्याद ँ सेधा देवयजं वह । ध्रुवमसि पृथिवीं दृ ँ ह ब्रह्मवनि त्वा क्षत्रवनि सजातवन्युपदधामि भ्रातृव्यस्य वधाय ॥१७॥

ऋषिः परमेष्ठी प्रजापतिः । ब्राह्मी पङ्क्तिश्छन्दः ।

हे अग्ने प्रगति-शील शिष्य, त्वं धृष्टिरसि प्रगल्भोसि वेदेषु वेदविचारेषु च । अत आमादम् अमनमामो गतिः । अम गत्यादिषु । तामत्तीत्यामादो गतिभक्षकः । अप्रगतिशील इत्यर्थः । ईदृशमग्निं ब्रह्मचारिणम् । अपजहि संत्यज । यस्य संसर्गेणात्मोन्नतिर्न स्यात्तस्य परिहार एव श्रेयानिति भावः । निष्क्रव्यादं मांसादिदुष्टपदार्थसेवनरहितं समाजं सेध प्राप्नुहि । षिध् गत्याम् । देवयजं विद्वत्सेविनमाचारसेविनं वा । वह प्रापय स्वसन्निधिमानय । विदुषां सन्निधानेन बुद्धिः सप्रभा भवति । शिष्यमुपदिश्य परमात्मानं प्रार्थयते—त्वं ध्रुवमसि सुस्थिरोसि । पृथिवीं मानवान् । पृथिवीशब्देन पृथिवीस्था मानवा उपचर्य्यन्ते—दृंह दृढीकुरु । शिष्यमाह पुनः—ब्रह्मवनि ब्रह्म वेदं परमात्मानं वा वनति शब्दापयत्यधीत आह्वयति चेतिभावः । ब्रह्मोपासकं वेदोपासकं ज्ञानोपासकमितिभावः । क्षत्रवनि क्षताद्दुःखात्त्रायते कंचित्स क्षत्रः परोपकारी । तं वनोति यः कश्चिदाह्वयति तम् । साहाय्याकांक्षिणमितिभावः । सजातं समानं जातं बन्धुमित्रादिकम् । तं वनुते याचत इति सजातवनि । एतान् सर्वान् हे परमेश्वर, उपदधामि त्वत्सन्निधा उप-

स्थापयामि । किमर्थमेषां ब्रह्मणः सन्निधौ स्थापनम् ? उच्यते । भ्रातृव्यस्य वधाय । भ्राजते शोभते इति भ्राता । भ्रातुः शोभमानस्यापत्यं जातं यत्किञ्चित्तद् भ्रातृव्यम् । शोभनाज्जातं सर्वं शोभनमेव भवत्यसति बाधके । एवं च भ्रातृव्यं दीप्तिस्तेजो वा । दीप्तेस्तेजसो वा वधाय प्राप्तये । हन हिंसागत्योः । गतिः प्राप्तिः ॥१७॥

भावार्थ–आचार्य कहते हैं–हेप्रगतिशील शिष्य तू वेदों और वेद-विचारोंमें प्रगतिशील है; अतः अप्रगतिशील ब्रह्मचारीका संग तू छोड़ दे। तथा ऐसे समाजमें रह जहां मद्य मांसादि दुष्ट वस्तुओंका सेवन न होता हो। ऐसोंको अपने पास रख जो आचारवान् हों और विद्वत्सेवी हों। इतना शिष्यसे कहकर आचार्य परमेश्वरसे प्रार्थना करता है कि हे परमेश्वर तू स्थिर है अतः पृथिवीके समस्त मानवोंको स्थिर बना–उनकी बुद्धि को स्थिर बना। पुनः आचार्य परमेश्वरसे प्रार्थना करते हैं कि वेदोपासक, किसीकी सहायता चाहनेवाले, बन्धु-मित्रादिसे कुछ मांगनेवाले–ऐसे लोगोंको आपके समीप उपस्थित करता हूँ जिससे कि इन्हें ओजस् और तेजस्की प्राप्ति हो ॥१७॥

अग्ने ब्रह्म गृभ्णीष्व धरुणमस्यन्तरिक्षं दृꣳह ब्रह्मवनि त्वा क्षत्रवनि सजातवन्युपदधामि भ्रातृव्यस्य वधाय। धर्त्रमसि दिवं दृꣳह ब्रह्मवनि त्वा क्षत्रवनि सजातवन्युपदधामि भ्रातृव्यस्य वधाय। विश्वाभ्यस्त्वाशाभ्य उपदधामि चितः स्थोर्ध्वचितो भृगूणामङ्गिरसां तपसा तप्यध्वम् ॥१८॥

ऋषिः परमेष्ठी प्रजापतिः। प्रथमपादस्य ब्राह्मी उष्णिक् छन्दः। मध्यमस्यार्ची त्रिष्टुप् छन्दः। अन्तिमस्यार्ची पङ्क्तिश्छन्दः।

पुनराचार्यः शिष्यमुपदिशति—हे अग्ने गतिशील ब्रह्म वेदं गृभ्णीष्व गृहाण। धरुणं धारणशक्तिसम्पन्नस्त्वमस्यतोन्तरिक्षम् अन्तर्मनस्तस्येक्षणसमर्थं परमात्मानं त्वं दृंह दृढीकुरु दार्ढ्येन स्वहृदये स्थापयेत्यर्थः। ब्रह्मवनीत्यादि वधायेत्यन्तं व्याख्यातम्*। पुनराचार्यः शिष्यमुपदिशति—त्वं धर्त्रं धारणशीलोसि, अतो दिवं द्योतमानं मोदयितृ वा तत्त्वं दृंह वर्धय। दृहि वृद्धौ। ब्रह्मवनीत्यादि वधायेत्यन्तं व्याख्यातम्*। हे शिष्य विश्वाभ्यः सर्वाभ्य आशाभ्यो दिग्भ्यस्त्वामुपदधामि धारयामि। सर्वासु दिक्षु त्वं कल्याणं प्रसारयेत्यर्थं त्वां शिष्यत्वेन स्वीकरोमि। सर्वानेव शिष्यान् सम्बोध्याचार्यो ब्रवीति—यूयं चितो ज्ञानवन्तः स्थ। चिती संज्ञाने। न केवलं सामान्य-ज्ञानवन्तो यूयं प्रत्युतोर्ध्वचितः सर्वश्रेष्ठज्ञानवन्तः स्थ। इदानीमाशिषमुच्चारयत्याचार्यः—भृगूणां परिपक्वबुद्धीनाम्। भ्रस्ज पाके। "प्रथिम्रदिभ्रस्जां सम्प्रसारणं सलोपश्च" (उ० १।२६) ! न्यङ्क्वादित्वात् (पा०७।३।५३) कुत्वम्। अङ्गिरसां गतिशीलानां विदुषाम्। "अङ्गेरसिः" (उ० ५।२३६)। अगिर्गत्यर्थः। तपसा ज्ञानेन तप्यध्वं प्रकाशध्वम् ॥१८॥

भावार्थ—आचार्य पुनः शिष्यको उपदेश देते हैं कि हे बुद्धिशालिन् शिष्य वेदोपदेश को ग्रहण कर। तू धारणशक्ति-

* इस पादकी व्याख्या मन्त्र १७ में देखिये।

सम्पन्न है अतः अन्तर्द्रष्टा परमेश्वरको अपने हृदयमें स्थापित कर……… । तू धारणाशक्तिसम्पन्न है अतः उस द्योतमान तथा आनन्दप्रद तत्वको अपनेमें बढ़ा । …………मैं तुझे सभी दिशाओंके लिए स्वीकार करता हूँ । सर्वत्र जाकर कल्याण की वृद्धि कर । आचार्य कहते हैं कि हे मेरे सभी शिष्यो, तुम सब ही ज्ञान-सम्पन्न हो; अतः परमबुद्धिशाली तथा प्रगतिशील विद्वानों के ज्ञानसे तुम लोग प्रकाशयुक्त बनो ॥१८॥

शर्मास्यवधूतꣳ रक्षोऽवधूताऽअरातयोदित्यास्त्वगसि प्रति त्वादितिर्वेत्तु । धिषणासि पर्वती प्रति त्वादित्यास्त्वग्वेत्तु दिवः स्कम्भनीरसि धिषणासि पार्वतेयी प्रति त्वा पर्वती वेत्तु ॥१९॥

ऋषिः परमेष्ठी प्रजापतिः । निचृद् ब्राह्मी त्रिष्टुप् छन्दः ।

पुनः शिष्यमाचार्य उपदिशति—शर्म सुखस्वरूप आनन्दस्वरूपस्त्वमसि । अवधूता इत्यादीनि पदानि व्याख्यातानि ।* अदितिरदैन्यं, त्वा त्वां, प्रतिवेत्तु जानातु । अदैन्यं त्वां प्राप्नोत्विवतिभावः । अथवाखण्डता त्वां प्रतिजानातु त्वमखण्डोसीतिभावः । धिषणा धियं बुद्धिं सनोति सम्भजत इति धिषणासि धिषणोसीतिभावः । स्त्रीत्वमार्षम् । अथवा धिषणः प्रगल्भोसि । ञिधृषा प्रागल्भ्ये । धृषेर्धिष च संज्ञायाम् (उ० २।८०) । पर्वती पर्ववानसि । अथवा पर्वती असि । पर्वति पूरयति लोकानिति पर्वतः परमेश्वरः । अतच् प्रत्ययः (उ०

* देखिये—मन्त्र सं० १४ पृष्ठ २५ ।

३।१०७)। पर्वतोस्येति पर्वती। ईश्वरप्रियोसीतिभावः। विद्वांस्त्वा त्वामदित्या अखण्डितस्य परमात्मनः। दोवखण्डने। त्वक् संवृतिः। त्वच संवरणे। प्रतिवेत्तु जानातु। परमात्मा त्वां संवृणोत्वितिभावः। दिवो द्युतेः। दिवु क्रीडाविजिगीषा-व्यवहारद्युतिस्तुतिमोदमदस्वप्नकान्तिगतिषु। ज्ञानद्युतेरिति-भावः। स्कम्भनीः स्कम्भं प्रतिबन्धं नयसि दूरं गमयसीति स्कम्भनीः। असि। न हि ते बुद्धिः क्वापि प्रतिबध्यते। स्कभि प्रतिबन्धे। धिषणासि धिषणोसि बुद्धिस्वरूपोसि। ञिधृषा प्रागल्भ्ये। धृषेर्धिष च" (उ० २।८२) इति क्युः। पार्वतेयी पर्वती च त्वां प्रतिवेत्तु। द्वितीयार्थे प्रथमा। पर्वतीति स्त्री-त्वविवक्षायाम्। परमेश्वरस्यालिङ्गत्वात्सर्वाण्येव लिङ्गानि तस्य। पर्वतायाः परमेश्वरायाः–परमेश्वरस्येतियावत्–अपत्यं पार्वतेयी। पर्वती पर्वतः परमेश्वरस्त्वां पार्वतेयी पार्वतेयीं परमेश्वरापत्यं स्वकीयमपत्यमितियावत्। प्रतिवेत्तु जानातु। त्वयि स्वापत्यबुद्धिं करोतु परमेश्वर इति तात्पर्यम्॥ १६॥

भावार्थ–आचार्य शिष्यको उपदेश करता है कि तू आनन्दस्वरूप है। तुझे कभी भी दीनताका अनुभव नहीं होना चाहिये। तू निर्भय है। तू ईश्वरप्रिय है। परमेश्वर तेरा संव-रण करे। ज्ञानप्रकाशके प्रतिबन्धको तू दूर करनेवाला है। अर्थात् तेरी बुद्धि कभी भी कहीं प्रतिबद्ध नहीं होती। तू बुद्धिस्वरूप ही है। पर्वती–परमेश्वर तुझे अपना अपत्य समझे। [इस मन्त्रके कुछ अंश पूर्व मन्त्रमें व्याख्यात हैं, अतः उन्हें छोड़ दिया है] ॥१६॥

धान्यमसि धिनुहि देवान् प्राणाय त्वोदानाय त्वा व्यानाय त्वा। दीर्घामनु प्रसितिमायुषे धां देवो वः सविता हिरण्यपाणिः प्रतिगृभ्णात्वच्छिद्रेण पाणिना चक्षुषे त्वा महीनां पयोसि ॥२०॥

ऋषिः परमेष्ठी प्रजापतिः। ब्राह्मी त्रिष्टुप् छन्दः।

आचार्यः शिष्यमुपदिशति-धान्यमसीति-धीयत इति धनम्। धनमेव धान्यम्। स्वार्थे ष्यञ्। परमात्मना त्वं धीयमानोसीति भावः। क्लीबत्वमविवक्षणीयम्। यतस्त्वं परमात्मना धीयमानोसि, अतस्त्वं देवान् दिव्यगुणविशिष्टान् विदुषः सदाचारांश्च। देवः कस्मात्? देवो दानाद्वा दीपनाद्वा द्योतनाद्वा द्युस्थानो भवतीतिवेति निरुक्तम् [७।१५]। धिनुहि प्रीणय, धिवि प्रीणने। धारय वा, धि धारणे। सर्वथैव छान्दसोयं प्रयोगः। किं च प्राणाय–प्राणनं प्राणः प्रकर्षेण जीवनम्, तस्मै। त्वा त्वाम्। वर्धयामीतिशेषः। उदानायोत्कर्षेणाननाय जीवनाय त्वां वर्धयामीति। व्यानाय विविधैः प्रकारैर्विविधेषु सन्मार्गेष्वननाय जीवनाय त्वां वर्धयामीति। दीर्घां महतीं महत्। प्रसितिं बन्धनम्। अनु अनुलक्ष्य। बहूनि सन्त्यत्र बन्धनानि बन्धनस्थानानि। तत्र बद्धो जीवो न भवति श्रेयःसाधनसमर्थः। अतस्तान्यनुसन्धाय। यथा त्वं तत्र बद्धो मा भूस्तथा। आयुषे दीर्घजीवनाय। वो युष्माञ्छिष्यान्। धां दधामि पुष्णामि। सम्पादयामि वा। किं च सविता जगदुत्पादकः। हिरण्यपाणिर्हितो रमणीयश्च पाणिर्यस्य,

देवस्य त्वा सवितुः प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्याम्। संवपामि समाप ओषधीभिः समोषधयो रसेन। सꣳरेवतीर्जगतीभिः पृच्यन्ताꣳ संमधुमतीर्मधुमतीभिः पृच्यन्ताम् ॥२१॥

ऋषिः परमेष्ठी प्रजापतिः। संवपामीत्यन्तं गायत्री छन्दः। अन्त्यस्य विराट् निचृत् पङ्क्तिश्छन्दः।

देवस्य त्वेत्यादि व्याख्यातम् *। सम् आपः समीचीनानि कर्माणि। अप इति कर्मनाम। ओषधीभिर्ज्ञानैः। उष दाहे इति धातोरोषः। ओषं दाहं धयन्ति विनाशयन्तीत्योषधयः। ज्ञानमेव सर्वान् मनःसन्तापान् विनाशयति। एवं च ज्ञानेन सह कर्माणि संवपामि। टुवप् बीजसन्ताने। उभे अपि सम्मेलयामि संमिश्रयामीतियावत्। ज्ञानं कर्म च सततं सदैव सेवनीये इति तात्पर्यम्–। ओषधय ओषधीर्ज्ञानानि। रसेनार्चया पूजया भक्त्येतियावत्। रसतीत्यर्चतिकर्मा। रस्यत इति रसः पूजा। संवपामि संमिश्रयामि। सर्वैः कर्मज्ञानभक्तिसमुच्चयः सेवनीय इत्युपदेशः। किं च सर्वे विद्वांसो रेवतीः प्लुतगतयो धर्माचरणार्थं शीघ्रगतयः। जगतीभिः–सामान्यगतिभिः। गमनं गतिः। सम्पृच्यन्तां सम्पर्कमनुभवन्तु। ये च बुद्धिमन्तो ये च सामान्यबुद्धय उभयेषां सम्पर्कस्तिष्ठतु, अन्यथा सर्वेषां मानवानां प्रगती रुद्धा भवेत्। एवं मधुमतीर्मधुमत्यः प्रसादवत्यो रसवत्यो वा। मधुमतीभिः प्रसादवतीभिः संपृच्यन्तां सम्पर्क-

* देखिये–मन्त्र सं० १० पृष्ठ १६।

मनुभवन्तु। अत्रेदमुच्यते—जगति विविधबुद्धयः पुरुषाः स्त्रियश्च वर्तन्ते प्रवर्तन्ते च कामकारं यासु कासु च क्रियासु। वेदो मार्गं दर्शयति-सर्वैस्तथा वर्तितव्यं च यथा न स्यात्परस्परमप्रीतिप्रसरः। विशिष्टा अविशिष्टैरपि मधुरव्यवहारिणो भवन्तु। एवं स्त्रियोपि स्वयं सन्मार्गे प्रवर्तमानाः सन्मार्गे प्रवर्तमानाभिः सह स्त्रीभिः सम्पर्कमनुभवन्तु। न केवलमेतदेव, अन्यथा-प्रवर्तमानाभिरपि सह सम्पर्कं साधयित्वा ता अपि सन्मार्गं प्रापयेयुरिति ॥२१॥

भावार्थ–[इस मन्त्रके भी कितने ही अंशोंकी व्याख्या अन्यत्र की जा चुकी है। शेषांशकी व्याख्या की जा रही है।] ज्ञानके साथ-साथ सत्कर्मोंकी भी साधना करनी चाहिये। केवल ज्ञान और कर्मकी ही नहीं, भक्तिकी भी सिद्धि साथ ही साथ करनी चाहिये। तथा विशिष्ट पुरुष और स्त्रियां, सामान्य पुरुषों और स्त्रियोंके साथ मिलकर, ज्ञान और सदाचारका आदान-प्रदान करके सदा सुखी बनें ॥२१॥

जनयत्यै त्वा संयौमीदमग्नेरिदमग्नीषोमयोरिषे त्वा घर्मोऽसि विश्वायुरुरुप्रथा उरु प्रथस्वोरु ते यज्ञपतिः प्रथतामग्निष्टे त्वचं मा हिꣳ सीद्देवस्त्वा सविता श्रपयतु वर्षिष्ठेऽधि नाके ॥२२॥

ऋषिः परमेष्ठी प्रजापतिः। प्रथतामित्यन्तस्य स्वराट् त्रिष्टुप् छन्दः; ततः परं गायत्री छन्दः।

पिता पुत्रमुद्दिश्य कथयति–जनयत्यै ज्ञानोत्पत्त्यै। त्वा

त्वाम् । संयौमि सम्यक् पृथक्करोमि । गृहादाचार्यगृहं प्रेषयामीतियावत् । अग्नेः प्रकाशशीलस्य विदुष इदम्, अग्नीषोमयोः प्रकाशशीलसौम्ययोरिदम् इमं धर्मं त्वा त्वां योजयामि । प्रकाशं शान्तिं च त्वा योजयामीत्यर्थः । गुरुकुलं गत्वा ज्ञानप्रकाशं तेन शान्तिं च त्वं लभस्वेति पितुराशंसा । आचार्यः शिष्यमाह–त्वामग्निनाग्निधर्मेण योजयामि यथा त्वमपि स इव प्रकाशको दोषदाहकश्च भवेः । एवमुक्त्वा पुनराहाचार्यः–न हि केवलेनाग्निधर्मेणाग्नीषोमयोरुभयोरेव धर्मेण त्वां योजयामि यथा त्वं सोम इव शान्तः प्रियश्च भवेः । मनुष्येण न केवलमग्निना भाव्यं सोमेनापि भाव्यम् । समये प्रकाशः समये दाहः समये शान्तिश्चापि । यथाकालमुग्रेण शान्तिमता च विदुषा भाव्यमिति तात्पर्यम् । अथ च इषे ऊर्ध्वगतये । इष गतौ । त्वां योजयामि प्रेरयामि । हे शिष्य त्वं घर्मोसि दीप्तिमानसि दयादानादि क्षरसि तथाविधोपि त्वमसि । आचार्यः शिष्यमाशीर्भिः स्नपयति—विश्वायुः सम्पूर्णायुष्को भव । शतं ततोप्यधिकं जीवेत्यर्थः । उरुप्रथा महाकीर्तिर्भव । प्रथा प्रसिद्धिः । उर्वी प्रथा यस्य तथा भव । पुनस्तमेवार्थं स्पष्टयन्नाह–उरु महत् प्रथस्व महतीं कीर्तिं लभस्वेत्यर्थः । यज्ञपतिः परमात्मा ते तुभ्यम् उरु महत् कीर्तिस्थानमायुर्वा प्रथतां विस्तारयताम् । किं चाग्निः प्रकाशशीलो यः कोपि वा । ते तव । त्वचं त्वच्यते संव्रियते स्वो यया सा त्वक् प्रतिष्ठा ताम् । ज्ञानं वा । तन्यते विस्तार्यते वर्ध्यत इति त्वक् (उ० २।६३) । मा हिंसीन्मा विनाशयतु । सर्वथा लब्धप्रतिष्ठो भवेतिभावः ।

सविता परमेश्वरः। सूते जगदिति सविता। देवो दिव्यगुण-विशिष्टः। वर्षिष्ठे सर्वश्रेष्ठे। नाके दुःखरहितप्रदेशे। अधिश्रयतु ज्ञानदानेन त्वामधिकं परिपक्वं ज्ञानिनं करोतु ॥२२॥

भावार्थ–पिता पुत्रसे कहता है कि तुझे ज्ञानी बनानेके लिये मैं घरसे पृथक् करता हूँ—गुरुकुलमें भेजता हूं। प्रकाश और शान्तिसे तुझे जोड़ता हूँ। आचार्य शिष्यसे कहता है कि मैं तुझे अग्निसमान प्रकाशक और दोषदाहक बनाता हूँ। इतना ही नहीं, चन्द्रधर्मसे भी मैं तुझे जोड़ता हूँ। अर्थात् तू जैसे ज्ञानसे प्रकाशित होगा वैसे ही तू शान्ति-सम्पन्न भी होगा। किं च ऊर्ध्वगति प्राप्त करनेके लिये मैं तुझे प्रेरणा दूंगा। हे शिष्य, तू दीप्तमान् भी है और दयादानादिसे युक्त भी है। अतः तू पूर्ण आयुवाला बनकर सौ से भी अधिक वर्षों तक जीता रह। परमात्मा तुझे यश दे और तेरी प्रतिष्ठा सदा बढ़ाता रहे। वह तुझे सुखसे रखे और ज्ञानसमृद्ध बनावे।२२।

मा भेर्मा संविक्था अतमेरुर्यजमानस्य प्रजा भूयात्। त्रिताय त्वा द्विताय त्वैकताय त्वा ॥२३॥

ऋषिः परमेष्ठी प्रजापतिः। बृहती छन्दः।

पुनराचार्यः शिष्यमाह मा भेः कस्यांचित्सभायां कस्यचिदपि विदुषः पुरस्तादुपस्थितस्त्वं मा भैषीः। सर्वथा सर्वत्र तथ्यं पथ्यं च ब्रूया इति भावः। मा संविक्था अयं मत्तो गरीयानिति कृत्वा कथमपि कुत्रचिदपि सत्याद्वचनात्पथो वा मा विचलितो भव। ओविजी भयचलनयोः। अतमेरुर्न तमेरुरतमेरुरग्लानः।

तमु ग्लानौ। एरुः प्रत्यय औणादिकः। त्वमग्लानो भव यतस्त्वं यज्ञोसि पूज्योसि पूजितोसि वा बहुभिर्विद्वद्भिः। यजमानस्य त्वां पूजयतो लोकस्य। प्रजा सन्ततिरपि। अतमेरुरग्लाना भूयादित्याशीः। त्रिताय त्रीन् स्वं जीवं प्रकृतिं चेति त्रींस्तनोति विस्तारयति स त्रितः परमेश्वरः। सृष्टिदशायां जीवेश्वरप्रकृतयश्च विस्तृता एव भवन्ति। यद्यपि परमेश्वरे न विस्तारो भवति, अव्ययान्निर्विकारत्वाच्च तस्य। तथापि स सृष्टिदशायां विस्तृत इव प्रतीयत इति भावः। तस्मै त्वा त्वां शिष्यं प्रेरयामि। परमात्मा तु सुतरां तत एव निसर्गतः कथं तस्य तननमित्याशङ्क्याह–द्वितयमिति। द्वे जीवप्रकृती तनोतीति। प्रलयकाले संकुचितवृत्तिके संकुचितज्ञाने वा सृष्टिकाले विस्तृतवृत्तिके विस्तृतज्ञाने वा जीवं प्रकृतिं च करोतीति द्वितायेश्वराय। त्वां प्रेरयामि। यदि मन्यसे जीवतत्त्वं न ततं भवति न वाततं भवतीति द्विवचनानुपपत्तिरिति तद्र्येकतायेति। एकं प्रकृतिमात्रं तनोति विस्तारयति जगद्रूपेण परिणमयति यस्तस्मै परमात्मने परमात्मप्रीतिसम्पादनाय त्वां प्रेरयामीति ॥२३॥

भावार्थ–आचार्य पुनः शिष्यको उपदेश देता है कि हे शिष्य किसी भी सभामें किसी भी विद्वान्से तुम भयभीत नहीं हो। सर्वत्र जो सत्य हों और प्रजाहित-कारक हों वैसे उपदेशोंको तुम करते ही रहना। किसीको अपनेसे बड़ा विद्वान् मानकर उसके सामने सत्यसे विचलित मत होना। सर्वदा तू ग्लानिरहित बना रह क्योंकि तू अनेक विद्वानोंसे

पूजित है। तेरी पूजा करनेवालोंकी सन्तति भी ग्लानिरहित ही होगी। त्रित, द्वित और एकतके लिए मैं तुझे प्रेरणा देता हूं। तात्पर्य यह है कि ईश्वर, जीव और प्रकृति ये तीन तत्त्व वैदिकोंको स्वीकृत हैं। सृष्टिकालमें इन तीनोंको जो विस्तार देता है उस परमात्माके लिये मैं तुझे प्रेरणा देता हूं। यहां प्रश्न यह है कि ईश्वर तो निर्विकार है। यदि उसमें विस्तार माना जाय तो वह सविकार बन जायगा। इस आशयसे त्रित को छोड़कर द्वित कहा है। द्वितसे जीव और प्रकृतिका ग्रहण है। यहां पुनः शङ्का है कि जीव अणुपरिमाण वाला है। वह न घटता है न बढ़ता है; अतः द्वित शब्द भी संगत नहीं है। इस शङ्काके परिहारके लिये एकत कहा। एक अर्थात् प्रकृति का विस्तार सभी दार्शनिकोंको स्वीकृत है। त्रितका अर्थ है ईश्वर, जीव प्रकृति इन तीनोंको बढ़ानेवाला। द्वितका अर्थ है जीव और प्रकृतिको बढ़ाने वाला। एकतका अर्थ है केवल एक-प्रकृतिको ही बढ़ाने वाला ॥२३॥

देवस्य त्वा सवितुः प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्याम्। आददेऽध्वरकृतं देवेभ्य इन्द्रस्य बाहुरसि दक्षिणः सहस्रभृष्टिः शततेजा वायुरसि तिग्मतेजा द्विषतो वधः ॥२४॥

परमेष्ठी प्रजापतिर्ऋषिः। स्वराड् ब्राह्मी पङ्क्तिश्छन्दः। **देवस्य त्वेति पादो व्याख्यातः*। अध्वरकृतमध्वरमहिंसां करो-**

* देखिये-मन्त्र सं० १० पृष्ठ १६।

तीत्यध्वरकृत्तम्। योहि परपीडनं करोति न भवति स सात्त्विकः। न वा स प्रभवति परोपकाराय। त्वं तु हे शिष्य न तथा ततस्त्वामध्वरकृतमाददे स्वीकरोमि गृह्णामि। किमर्थम्? देवेभ्यो विद्वत्प्रसादनार्थम्। अपरं हेतुमाह—इन्द्रस्य सांसारिकैश्वर्यमूढस्य त्वं दक्षिणः कुशलः। बाहुरसि बाधकोसि। बाधत इति बाहुः। किं च त्वं सहस्रभृष्टिरसि सहस्राणि बहूञ्जनान् भृज्जति पचति शोधयतीति तात्पर्यम्। तथाभूतस्त्वमसि। किं च शततेजा बहुतेजस्कोप्यसि। वायुरसि गमनसमर्थोऽप्यसि दूरातिदूरप्रदेशेषु। तिग्मतेजास्तीक्ष्णतेजस्कोप्यसि। न हि तव तेजः सोढुं कोपि दुरितवान्समर्थ इति। अतएव त्वं द्विषतो लौकिकस्य शत्रोर्धर्मोपद्रवकारिणः। वधो हिंसकोसि। पारोक्ष्येण शिष्यगुणा उपदिष्टा अत्र ॥२४॥

भावार्थ—[इस मन्त्रका प्रथम पाद पूर्वमें व्याख्यात हो चुका है]। किसीको दुःख पहुँचाने वाला मनुष्य सात्विक नहीं माना जाता। वह मनुष्य परोपकारके लिये भी अयोग्य ही होता है। हे शिष्य तू तो वैसा नहीं है। अतः मैं तेरा स्वीकार करता हूं। सांसारिक ऐश्वर्यमें डूबे हुओंके लिये तू कुशल वैद्य है। तू अनेकोंको पवित्र करनेकी शक्तिवाला है। तू परमतेजस्वी और दूर-दूर जानेमें समर्थ है। तेरे तेजको कोई सह नहीं सकता; अतः तू धर्ममें बाधा पहुँचाने वालोंका वधकर्ता भी है। इस मन्त्रमें शिष्य कैसा होना चाहिये, इसका निरूपण हुआ है ॥२४॥

पृथिवि देवयजन्योषध्यास्ते मूलं मा हि ँ सिषं व्रजं गच्छ गोष्ठानं वर्षतु ते द्यौर्बधान देव सवितः परमस्यां पृथिव्या ँ शतेन पाशैर्योऽस्मान्द्वेष्टि यं च वयं द्विष्मस्तमतो मा मौक् ॥२५॥

ऋषिः परमेष्ठी प्रजापतिः। विराड् ब्राह्मी त्रिष्टुप् छन्दः।

हे देवयजनि देवा विद्वांसो यस्यामिज्यन्ते संगता भवन्ति दिव्यगुणविशिष्टा भवन्तीति वा। तथाभूते पृथिवि, ओषध्या ओषं तापं धयति पिबति शमयतीत्यर्थः। सर्वदोषविनाशनशीलायाः। ते तव। मूलं प्रतिष्ठाम्। मूल प्रतिष्ठायाम्। मा हिंसिषं न विनाशयामि। पृथिव्याः सर्वेषां प्राणिनां निवासस्थानभूतायाः सर्वदा योग्यरीत्या रक्षणं कर्त्तव्यमिति ध्वनिः। व्रजं मेघम्। गच्छ प्राप्नुहि। काले काले मेघस्त्वां सिञ्चत्वित्यर्थः। गोष्ठानं गवां स्थानं निवासस्थानं भवेति शेषः। सर्वदा गावस्त्वयि निवसन्त्वितिभावः। ते तव त्वयीत्यर्थः। द्यौर्द्युलोकः। मेघ इति भावः। वर्षतु काले काले वृष्टिं करोतु। अथवा द्यौरित्यहर्नाम। द्योतत इति द्यौः। डो प्रत्ययः (उ० २।६४)। अहस्ते त्वां वर्षतु सिञ्चतु। वृष सेचने। प्रत्यहं त्वं सिक्ता भवेतिभावः। हे सवितः सर्वोत्पादक देव, अस्यां पृथिव्यामस्मन्निवासभूतायां शतेन बहुविधैः। पाशैर्बन्धैः। परं शत्रुम्। बधान बद्धं स्थापय। यः। अस्मानुपासकान्धर्ममार्गप्रवृत्तान् परोपकारनिरतान्। द्वेष्टि, अतएव च वयमुपासकास्त्वदाज्ञापालननिरताः। यमस्मद्द्वेष्टारम्। द्विष्मः। यतः

स धर्मं धार्मिकांश्च द्वेष्टि, अतोस्मात्कारणात्तं शत्रुं मा मौक् मा मुञ्च ॥२५॥

भावार्थ—सर्वदोषोंका नाश करनेवाली हे पृथिवि, तुम्हारी प्रतिष्ठा का हम कभी विनाश न करें। समय-समयपर मेघ वृष्टि द्वारा तुम्हारा सेचन करे। तू गौओंका निवासस्थान बन। हे परमेश्वर, पृथिवीके शत्रुओंको तू सैकड़ों बन्धनोंसे बांध। तथा तुम्हारी उपासनामें निरत हम लोगोंको जो हैरान करे उसे तुम हैरान करो। शत्रु धर्म और धार्मिकोंसे द्वेष करते हैं; अतः उन्हें छोड़ो नहीं, अवश्य उनका वध करो ॥२५॥

अपाररुं पृथिव्यै देवयजनाद्वध्यासं व्रजं गच्छ गोष्ठानं वर्षतु ते द्यौर्बधान देव सवितः परमस्यां पृथिव्या ँ शतेन पाशैर्योस्मान्द्वेष्टि यं च वयं द्विष्म-स्तमतो मा मौक्। अररो दिवं मा पप्तो द्रप्सस्ते द्यां मा स्कन् व्रजं गच्छ गोष्ठानं वर्षतु ते द्यौर्बधान देव सवितः परमस्यां पृथिव्या ँ शतेन पाशैर्योऽस्मा-न्द्वेष्टि यं च वयं द्विष्मस्तमतो मा मौक् ॥२६॥

ऋषिः परमेष्ठी प्रजापतिः। पूर्वार्धे स्वराड् ब्राह्मी पङ्क्ति-श्छन्दः। उत्तरार्धे भुरिग् ब्राह्मी पङ्क्तिश्छन्दः।

पृथिव्यै पृथिवीरक्षायै। देवयजनाद्देवा सत्पुरुषा इज्यन्ते पूज्यन्ते यत्र तस्मात्स्थानात्। अररुं शत्रुम्। ऋ गतिप्रापणयोः। "अर्तेररु" (उ० ४।७९) रित्यरुः प्रत्ययः। अपवध्यासमप-

हन्याम् । व्रजं गच्छेत्यादि व्याख्यातम्* । हे अररो शत्रो त्वं दिवं मोदमानन्दम् । मा पप्तो मा प्राप्नुहीति भावः । पत्लृ गतौ । ते तव द्रप्सो हर्षो हर्षकारणं वा । दृप हर्षादौ । "अघ्न्यादयश्च" (उ० ४।११२) इति निपातितः । द्यां स्तुतिं प्रशंसाम् । मा स्कन् मा गच्छतु प्राप्नोतु । शत्रवो हि पीडनं कृत्वैव हृष्यन्ति । तेषां हर्षं मास्म कश्चिदपि स्तौदितिभावः । व्रजमित्यादि मौगित्यन्तः पाठो विषयदार्ढ्यार्थः ॥२६॥

भावार्थ—[इस मन्त्रके कितने ही भाग पूर्वमें व्याख्यात हैं । अतः अवशिष्ट भागकी ही व्याख्याकी जाती है ।] पृथिवी और पृथिवीके मनुष्योंकी रक्षाके लिये मैं शत्रुओंका नाश करता हूं । हे शत्रो, तू आनन्दका प्राप्त न हो, तेरे हर्षकी कोई प्रशंसा न करे । क्योंकि शत्रु या शत्रुता करनेवाले दुर्जन ही होते हैं । दुर्जनोंको आनन्द और शान्ति न मिले इसीमें उनका कल्याण है । यही इस मन्त्रका आशय है ॥२६॥

गायत्रेण त्वा छन्दसा परिगृह्णामि त्रैष्टुभेन त्वा च्छन्दसा परिगृह्णामि जागतेन त्वा छन्दसा परिगृह्णामि । सुक्ष्मा चासि शिवा चासि स्योना चासि सुषदा चास्यूर्जस्वती चासि पयस्वती च ॥२७॥

ऋषिः परमेष्ठी प्रजापतिः । ब्राह्मी त्रिष्टुप् छन्दः ।

हे बुद्धे गायत्रेण स्तुत्यात्मकेन । गायत्रं गायतेः स्तुतिकर्मणः । छन्दसा हर्षणसाधनेन । चदि आह्लादे । "चन्देरा-

* देखिये—मन्त्र सं० २५ पृष्ठ ४४ ।

देश्च छः" (उ० ४।२१६)। परिगृह्णामि स्वीकरोमि। त्वया तत्कार्यं कर्तव्यं, तस्मिन् कार्ये प्रवेष्टव्यं येन तव स्तुतिः प्रसरेदिति। त्रैष्टुभेन लोकत्रयस्तम्भकेन। ष्टुभु स्तम्भे। त्रींल्लोकान्त्स्तोभते स्तभ्नातीति त्रिष्टुप्। परमात्मा। त्रिष्टुभ इदं त्रैष्टुभं तेन परमात्मच्छन्दसा परमात्मेच्छया त्वा त्वां परिगृह्णामि। जागतेन—सर्वत्र गच्छतीति जगत् सर्वव्यापी परमेश्वरः। तस्येदं जागतम्। तेन च्छन्दसा परमेश्वरेच्छया त्वां परिगृह्णामि। कीदृशी बुद्धिरस्तीत्याह-हे बुद्धे त्वं सुक्ष्मा: शोभना पवित्रा क्ष्मा भूमिः स्थानं यस्यास्तथाभूतासि। त्वं यत्रोत्पन्ना स्थिता च स कश्चिन्महान् आत्मास्त्येवेति। शिवा चासि—अतएव कल्याणसम्पादिका चासि। पवित्रे आत्मनि स्थिता बुद्धिरवश्यं कल्याणं साधयतीतिभावः। स्योना चासि सुखस्वरूपा चासि। षिवु तन्तुसन्ताने। षोन्तकर्मणि वा। एतादृश्येव बुद्धिः सार्वदिकं सुखमनुभवति। दुरात्मनि स्थिता सा दुर्मुखी भवन्ती न कुत्राप्यवकाशं लभते। सुषदा सुखेन सुस्थाने वा सीदति सादयति च तथाभूतासि। गत्यर्थकः सदिः। ऊर्जस्वती सामर्थ्यवती चासि। पयस्वती पोषणकर्त्री चासि। पय इत्यन्ननाम। लक्षणया पोषणमर्थः। अथवा पोषणशक्ति-सम्पन्नासि ॥२७॥

भावार्थ—हे बुद्धे, लोक तेरी स्तुति करें, इस रीतिसे मैं तेरा ग्रहण करता हूं। अर्थात् बुद्धिको ऐसे काम करने चाहियें जिससे सभी उसकी प्रशंसा करें। तीनों लोकोंको धारण करनेवाले और सर्वव्यापक परमेश्वरकी इच्छासे मैं तुझे अङ्गीकार करता हूं।

ईश्वरेच्छासे ही सद्बुद्धि प्राप्ति होती है। हे बुद्धि, तू पवित्र स्थानमें–हृदयमें उत्पन्न होनेवाली है। एवं कल्याणप्रद, सुख-स्वरूप, सुखसे रहनेवाली अथवा रहनेदेने वाली, परम-सामर्थ्य वाली पोषण करने वाली है। "बुद्धिर्यस्य बलं तस्य" इत्यादि-भाव द्योतन करनेके लिये इस मन्त्रका उपदेश हुआ है ॥२७॥

पुरा क्रूरस्य विसृपो विरप्शिन्नुदादाय पृथिवीं जीवदानुम्। यामैरयँश्चन्द्रमसि स्वधाभिस्तामु धीरासो अनुदिश्य यजन्ते। प्रोक्षणीरासादय द्विषतो वधोसि ॥२८॥

ऋषिः परमेष्ठी प्रजापतिः। विराड् ब्राह्मी पङ्क्तिश्छन्दः।

हे विरप्शिन् विविधैः प्रकारै रपति शब्दं करोत्यधीत इति विरप्शी। तत्सम्बद्धौ विरप्शिन् ब्रह्मचारिन्। क्रूरस्य बन्धनानि कृन्ततः। कृती छेदने। "कृतश्छः क्रू च" (उ० २। २१)। विसृपो विविधैर्बहुप्रकारैः सर्पति गच्छतीति विसृप् तस्य। पुरा रक्षणेन। पॄ पालनपूरणयोः। हेतौ तृतीया। पृथिवीं महतीम्। जीवदानुं जीवनदानदात्रीम्। परमात्म-शक्तिम्। स्मरेति वा आश्रयेति वा शेषः। यां शक्तिम्। स्वधाभिः स्वमात्मानं दधतीभिः। विद्याभिरितियावत्। चन्द्रमसि आह्लाद-के परमात्मनि। ऐरयन् प्रैरयन्विद्वांसः। ताम् उ तामेव। अनुदिश्योद्दिश्य। धीरासो विद्वांसः। यजन्ते पूजयन्ति। हे ब्रह्मचारिन्, प्रोक्षणीः प्राति पूरयतीति प्रः। उक्षति ज्ञानेन रक्षणेन सिञ्चतीत्युक्षः। प्रश्चासावुक्षश्च प्रोक्षः पूरणकर्त्ता

ऋषिः परमेष्ठी प्रजापतिः। त्रिष्टुप् छन्दः।

प्रत्युष्टमित्यादि व्याख्यातम्*। हे शिष्य, अनिशितोसि—अतीक्ष्णीकृतोसि। न सम्यगध्यापितोसीतिभावः। तथापि सपत्नक्षिच्छत्रुविनाशकः। असीतिशेषः। सपत्नाञ्छत्रून्। क्षयतीति। एतेन बुद्धितैक्ष्ण्यं द्योतितम्। वाजिनं ज्ञानवन्तम्। त्वा त्वाम्। वाजेध्यायै वाजस्य विद्याया इध्यायै दीप्त्यै। ञिइन्धी दीप्तौ। विद्याप्रकाशायेत्यर्थः। सम्मार्ज्मि शोधयामि तत्त्वमधिकमध्यापयामीतिभावः। शिष्यां ब्रह्मचारिणीमपि तथैवोपदिशति—अनिशितासीत्यादि। केवलं लिङ्गविपर्ययो नार्थविपर्ययः। सत्कर्मप्रवर्तनावरोधकावगुणसमुदायः काम-क्रोधादिशत्रुगणश्च ते नितरामवपातितः। परमद्याप्यनिशितो-ऽसीति पूर्वेण संगतिः॥२९॥

भावार्थ—सत्कार्य करनेमें विघ्न डालने वाले तेरे सब अवगुण और काम-क्रोधादि शत्रु सर्वथा नष्ट हो चुके हैं। परन्तु हे शिष्य, तू अभी तक सम्पूर्ण रीतिसे पढ़ाया नहीं गया है तथापि तू शत्रुओंका पराजय करने वाला है। ऐसे बुद्धि-शाली तुझ शिष्यको विद्याप्रकाशके लिये विशुद्ध बनाता हूं। एवम् मेरे इस आश्रममें रहने वाली ब्रह्मचारिणियों को भी विद्याप्राप्तिके लिए विशुद्ध बनाता हूँ॥२९॥

अदित्यै रास्नासि विष्णोर्वेष्पोऽस्यूर्जे त्वाऽदब्धेन त्वा चक्षुषावपश्यामि। अग्नेर्जिह्वासि सुहूर्देवेभ्यो धाम्ने धाम्ने मे भव यजुषे यजुषे॥३०॥

---

* देखिये—मन्त्र सं० ७ पृष्ठ १४।

अच्छिद्रेण पवित्रेण। दृढैः पावनैश्च। सूर्यस्य सर्वत्र सरणशीलस्य रश्मिभिस्तेजोभिः। अथवा नियामकशक्तिभिः। रशिर्यमनार्थो धातुः। वो युष्मान्। उत्पुनाम्यधिकं पावयामि। न हि मम किञ्चित्सामर्थ्यमतः परमात्मन एव सामर्थ्येन युष्मान् पावयामीतिभावः। किं च ब्रह्मचर्यपूर्वकविद्याभ्यासमाहात्म्येन हे शिष्य त्वं तेजोसि तेजस्व्यसि। शुक्रमसि। दीप्तिमानसि। शुच दीप्तौ। नैघण्टुकोयं धातुः। अथवा शोचतिर्ज्वलतिकर्मा। शोचति प्रज्वालयति सर्वान्दोषानिति शुक्रम्। अमृतमसि मरणधर्मा नासि। धामासि सर्वविद्याधारणसमर्थोसि। डुधाञ् धारणपोषणयोः। नामासि नमनशीलोसि। नोद्धतोसीति भावः। णम प्रह्वत्वे शब्दे। देवानां विदुषाम्। प्रियमसि प्रियोसि। अनाधृष्टमसि केनापि विदुषा धर्षयितुमशक्योसि। देवयजनमसि विद्वत्पूजास्थानमसि विदुषां पूजकोसीति तात्पर्यम् ॥३१॥

इतिसर्वतन्त्र-स्वतन्त्र-कवितार्किक-परमहंस-परिव्राजकाचार्य-

पण्डितराज-स्वामि-श्रीभगवदाचार्येण प्रणीतं

(शुक्ल) यजुर्वेदे (माध्यन्दिन-संहितायाम्)

प्रथमाध्याये

यजुः-संस्कारभाष्यम्

भावार्थ—आचार्य शिष्यको उपदेश करता है कि हे शिष्य परमात्माके साक्षात्कारके लिये दृढ और पवित्र परमेश्वरके तेजसे-वेदके ज्ञानसे-तुझे पवित्र करता हूँ। एक शिष्यको ऐसा

कहकर अन्य शिष्योंको आचार्य आशीर्वाद देता है—परमात्माके साक्षात्कारके लिये सर्वत्र व्यापक परमात्माके पवित्र तेजसे तुम लोगोंको मैं पवित्र करता हूँ। पुनः एक-एक शिष्यसे आचार्य कहता है कि, तू तेजस्वी है, सर्वदोषरहित है, अमर है, सर्वविद्याओंको धारण करनेमें समर्थ है, नम्र है, विद्वानोंका प्रिय है और कोई भी विद्वान् तुझे पराजित नहीं कर सकता, तो भी तू विद्वानोंका सत्कार करनेवाला है ॥३१॥

इति सर्वतन्त्र-स्वतन्त्र-कवितार्किक-परमहंस-परिव्राजकाचार्य-
"पण्डितराज" स्वामिश्रीभगवदाचार्येण प्रणीतं
(शुक्ल) यजुर्वेदे (माध्यन्दिन संहितायाम्)
प्रथमाध्याये यजुः-संस्कारभाष्यस्य
हिन्दीभाषया निबद्धं संक्षिप्तं रहस्यम्

—०—

अथ शुक्लयजुर्वेदे द्वितीयोऽध्यायः

कृष्णोऽस्याखरेष्ठोऽग्नये त्वा जुष्टं प्रोक्षामि वेदिरसि बर्हिषे त्वा जुष्टं प्रोक्षामि बर्हिरसि स्रुग्भ्यस्त्वा जुष्टं प्रोक्षामि ॥१॥

ऋषिः परमेष्ठी प्रजापतिः । निचृत्पङ्क्तिश्छन्दः ।

गुरुः शिष्यं प्रत्याह—हे शिष्य त्वं कृष्णोस्यज्ञानविलेखकोसि । आखरेष्ठ आ समन्तादिन्द्रियाणामभिभविताप्यसि । आ समन्तात्खमिन्द्रियं रात्यभिभवतीति खरः । इन्द्रियव्यापारनिरोधकोप्यसि । अतस्त्वा त्वां जुष्टं प्रीतं सन्तमग्नये परमात्मने प्रोक्षामि परमात्मप्राप्त्यर्थं शोधयामि पावयामि । वेदिरसि त्वं परमात्मप्राप्तिकर्तासि परमात्मानं प्राप्तुकामोसीति वा । विद्लृ लाभे । अथवा ज्ञानवानसि । विद ज्ञाने । ततस्त्वा त्वां जुष्टं प्रीतं मां सेवितवन्तं वा शिष्यं त्वाम् । बर्हिषे व्यापकाय । बृहि वृद्धौ । "बृंहेर्नलोपश्च" (उ० २।१०६) । त्वा प्रोक्षामि शोधयामि । परमात्मप्राप्तियोग्यं त्वां सम्पादयामीतिभावः । किं च त्वमपि बर्हिरेव । शरीरव्यापकोस्यतो जुष्टं प्रीतं त्वा त्वां स्रुग्भ्यो गतिशीलेभ्यो विद्वद्भ्योधिकज्ञानलाभाय प्रोक्षामि ॥१॥

भावार्थ—आचार्य शिष्यसे कहता है कि हे शिष्य तू

अज्ञानका नाश करनेवाला है। अपनी इन्द्रियों पर अपना अधिकार रखनेवाला है। अतः प्रेमपात्र तुझे मैं परमेश्वरकी प्राप्तिके लिये पवित्र बनाता हूँ, क्योंकि तू परमेश्वरकी प्राप्ति की इच्छा रखता है। तू अपने शरीरमें व्यापक है अतः प्रसन्न तुझे मैं अधिक ज्ञानके लिये अन्य विद्वानोंके पास जानेकी आज्ञा देता हूं। तात्पर्य यह है कि परमेश्वर सम्पूर्ण जगत्में व्यापक होनेसे बर्हि है और तू अपने स्वरूपभूत ज्ञानसे अपने शरीरमें व्यापक होनेसे बर्हि है। अर्थात् महत्ता दोनोंमें ही है। परन्तु परमेश्वरकी महत्ताकी इयत्ता नहीं है और तेरी महत्ता सीमित है। अतः अधिक ज्ञानकी प्राप्तिके लिये तुझे अन्य विद्वानोंके पास जानेकी मैं अनुमति देता हूँ ॥१॥

अदित्यै व्युन्दनमसि विष्णो स्तुपोस्यूर्णम्रदसं त्वा स्तृणामि स्वासस्थां देवेभ्यो भुवपतये स्वाहा भुवनपतये स्वाहा भूतानाम्पतये स्वाहा ॥२॥

ऋषिः परमेष्ठी प्रजापतिः। स्वराड् जगती छन्दः।

पुनः शिष्यं प्रत्याहाचार्यः—अदित्यै पृथिव्याः। पृथिवीस्थमनुष्याणामित्यर्थः। व्युन्दनं विशेषेण विद्यासदाचरणादिदानेन क्लेदकोसि सेचकोसि। सन्तर्पको भवेति भावः। अथवादितिरदीना (नि० ४।२२)। अदीनाया ज्ञानसंयुक्तायाः प्रजायास्त्वं सन्तर्पको भव। विष्णोः सर्वव्यापकस्य परमात्मनः। स्तुपोसि स्तुतिपात्रमसि। परमात्मा त्वयि प्रसन्नोस्तीतिभावः। ष्टुञ् स्तुतौ। "स्तुवो दीर्घश्च" (उ० ३।२५)। स्तूयत

इति । अत्र दीर्घाभावश्छान्दसः । ऊर्णम्रदसमत्यन्तकोमलम् । ऊर्ण आच्छादकः सर्वस्य वस्तुनः । व्यापक इति भावः । ऊर्णुञ् आच्छादने । अतिशयेन मृदुर्म्रदीयान् । ईयलोपश्छान्दसः । ऊर्णः परमात्मा । स चातीव नम्रः कोमलश्च । स इव कोमलं दयालुम् । किं च स्वासस्थां सुन्दरे विचाराचाररूप आसने स्थितं त्वाम् । स्तृणामि आच्छादयाम्यधिकेनाचारविचारज्ञानादिदानेन । किमर्थमाचार्यः शिष्यमित्थं ज्ञानाचारादिभिर्विभूषयतीत्याह—देवेभ्यो विद्वद्भ्यो भुवपतये क्षत्रियादिभ्योल्पभूस्वामिभ्यः । स्वाहा सुखदानाय । स्वाहेतिनिपातः । निपाता बह्वर्थाः । नितरां बह्वर्थेषु पतन्ति बहूनर्थान् बोधयन्तीति निपाताः । सर्वेषां सुखदानाय त्वामहं वर्धयामि । भुवनपतये स्वाहा—अधिकभूस्वामिभ्यः सुखदानाय । भूतानां सर्वप्राणिनां पतये रक्षायै । पानं पतिः । सर्वप्राणिनां रक्षायै त्वां स्वाहा—सर्वत्र त्वां वर्धयामि । सर्वेभ्यस्त्वन्तःसुखमुपतिष्ठेतेति गुरवो ज्ञानचारित्रादिभिः शिष्यं विभूषयन्तीति भावः ॥२॥

भावार्थ—आचार्य पुनः शिष्यसे कहता है कि तू विद्यासदाचारादिके दानसे मनुष्योंको तृप्त करता रहे। सर्वव्यापक परमेश्वरका तू स्तुतिपात्र है। परमेश्वरके समान ही नम्र और दयालु तुझे मैं अधिक आचार-विचारसे विभूषित करता हूँ। अर्थात् जैसा परमात्मा नम्र भी है और दयालु भी वैसा ही सद्गुणसम्पन्न मैं तुझे बनाता हूँ। विद्वानों (ब्राह्मणों), क्षत्रियों, अधिक भूखण्डके स्वामी क्षत्रियों तथा सर्वप्राणियोंकी

रक्षाके लिये मैं तुझे ज्ञान-समृद्ध बनाता हूँ ॥२॥

गन्धर्वस्त्वा विश्वावसुः परिदधातु विश्वस्यारिष्ट्यै यजमानस्य परिधिरस्यग्निरिड ईडितः। इन्द्रस्य बाहुरसि दक्षिणो विश्वस्यारिष्ट्यै यजमानस्य परिधिरस्यग्निरिड ईडितः। मित्रावरुणौ त्वोत्तरतः परिधत्तां ध्रुवेण धर्मणा विश्वस्यारिष्ट्यै यजमानस्य परिधिरस्यग्निरिड ईडितः ॥३॥

ऋषिः परमेष्ठी प्रजापतिः। आद्यस्य पादस्य भुरिगार्ची त्रिष्टुप् छन्दः। मध्यस्य भुरिग् आर्ची पङ्क्तिश्छन्दः। अन्त्यस्य पङ्क्तिश्छन्दः।

गन्धर्वः सर्वविद्याधारणकर्ता। गां विद्यां धारयतीति। विश्वावसुः सर्वस्य निखिलस्य वासयिता निवासप्रद आच्छादको रक्षको वा परमात्मा, हे शिष्य त्वा त्वां परिदधातु सर्वतः पुष्णातु रक्षतु वा। किमर्थम्? विश्वस्य जगतः। अरिष्ट्यै कल्याणाय। रिष हिंसायाम्। रिष्टिर्हिंसा। न रिष्टिररिष्टिः। शिष्यमुपदिश्य परमात्मानं प्रार्थयते—हे परमेश्वर, त्वं यजमानस्य दिव्यगुणसंग्राहकस्य। देवार्थकोत्र यजिः। त्वं परिधिः सर्वतो धारकोसि। डुधाञ् धारणपोषणयोः। यतस्त्वमग्निरसि। अग्निः सर्वव्यापकः। अगि गतौ। किंचेड ईड्यते स्तूयते सर्वैरितीट् तस्येडः। छान्दसी प्रक्रिया। इडोपि सर्वस्तुतस्यापि त्वमीडितः स्तुतः स्तोतव्यो वासि। हे परमेश्वर, त्वमिन्द्रस्यात्मन उपासकस्य। बाहुः सर्वबाधा-

बाधकः। असि। किं च तस्य दक्षिणोप्यस्युत्साहवर्धकोप्यसि। विश्वस्यारिष्ट्यै कल्याणाय यजमानस्य त्वां पूजयतः स्मरतो वा जीवस्य परिधिः परितो धारकश्चासि। अग्निरिड ईडित इति पदत्रयी व्याख्याता। आचार्यः पुनः शिष्यायाशीर्वचनं ब्रूते—मित्रावरुणौ मित्रः स्निग्धो वरुणो वरणीयश्च सर्वैरेवंभूतः परमात्मा। मित्रश्च वरुणश्च प्रायेण समस्यैव निर्दिश्येते। हे शिष्य त्वा त्वाम् उत्तरत उत्तरेण उत्कृष्टतरेण मार्गेण। ध्रुवेण निश्चितेन। धर्मणा धर्मेण गुणसमुदायेन। परिधत्तां परितो दधातु। यतः परमात्मना त्वं परिधीयमानोसि ततो विश्वस्य सर्वस्य। यजमानस्य परमेश्वरोपासकस्य। परिधिः परितो रक्षकोसि। किं च इडः स्तावकः परमेश्वरस्य। ईट्ट इतीडः। ईडितः स्तुतः अन्यैश्चेति शेषः। इत्थंभूतस्त्वम् अग्निः प्रकाशशीलोग्रगन्ता चासि ॥३॥

भावार्थ—सर्वविद्यासम्पन्न तथा निखिल विश्वका आश्रय परमेश्वर जगत्के कल्याणके लिये तेरी रक्षा करे। आचार्य शिष्य को इतना आशीर्वाद देकर परमेश्वरसे प्रार्थना करता है—हे परमेश्वर तुम इस दिव्यगुणविशिष्ट यजमानके सब ओरसे रक्षक हो। क्योंकि तुम सर्वव्यापक और सबसे स्तुत हो। इतना ही नहीं, अपने उपासकों की सभी बाधाओंको निवृत्त करने वाले हो। उत्साहवर्धक भी हो। आचार्य पुनः शिष्यको आशीर्वाद देते हैं—हे शिष्य, मित्र और वरुण-मित्रभूत और वरणीय परमात्मा उत्कृष्ट मार्गसे तथा निश्चित गुणोंसे—गुणप्रदानरूप साधनसे तेरी सर्वथा रक्षा करे। किं च परमात्मा तेरी रक्षा करता

है अतः तू परमेश्वरकी स्तुति करने वाला है और लोग तेरी स्तुति करते हैं। ऐसा तू प्रकाशशील और अग्रगन्ता है ॥३॥

वीतिहोत्रं त्वा कवे द्युमन्तं समिधीमहि। अग्ने बृहन्तमध्वरे ॥४॥

ऋषिः परमेष्ठी प्रजापतिः। निचृद् गायत्री छन्दः।

हे कवे क्रान्तदर्शिन्, वीतिहोत्रं वीतिं पानं ज्ञानामृत-पानमिति। तस्य होत्रं दातारम् द्युमन्तं द्युतिमन्तम्। समिधी-महि सन्दीपयाम आत्मनि प्रकाशयामः स्थापयाम इत्यर्थः। किं च हे अग्ने सर्वव्यापक परमेश्वर! बृहन्तं स्वस्योपासकान् बर्हयन्तं त्वाम्। अध्वरे पवित्रे हिंसादिदोषरहिते स्वहृदये। ध्यायाम इति शेषः ॥४॥

भावार्थ—हे त्रिकालज्ञ परमेश्वर ज्ञानामृतके दाता और प्रकाशस्वरूप, तथा अपने उपासकोंको सदा उन्नत मार्गमें ले जानेवाले तुमको हम सब उपासक अपने हृदयमें स्थापित करते हैं ॥४॥

समिदसि सूर्यस्त्वा पुरस्तात्पातु कस्याश्चिदभि-शस्त्यै। सवितुर्बाहू स्थ ऊर्णम्रदसं त्वा स्तृणामि स्वासस्थन्देवेभ्य आ त्वा वसवो रुद्रा आदित्याः सदन्तु ॥५॥

ऋषिः परमेष्ठी प्रजापतिः। निचृद् ब्राह्मी बृहती छन्दः।

आचार्यः शिष्यमाह—हे शिष्य त्वं समिदसि ज्ञानप्रकाशेन

सर्वथेद्धोसि । इन्धी दीप्तौ । सूर्यः सरति सर्वत्रेति सूर्यः परमात्मा । कस्याश्चिदप्यभिशस्त्यै । पञ्चम्यर्थे चतुर्थी । अभिशस्त्याः शापादनिष्टाद्वा कस्माच्चिदपि । त्वा त्वाम् । पुरस्तात्प्रथमं पातु रक्षतु । अथवा सूर्यः परमात्मा । तवेति शेषः । पुरः सम्मुखं स्ताद्भवतात् । आशीः । सर्वस्मादनिष्टप्रसङ्गात् परमात्मा त्वां रक्षत्विति तात्पर्यम् । त्वं सवितुर्जगदुत्पादकस्य परमेश्वरस्य बाहू स्थोसि । बाहुस्थानीयोसि । यथा बाहुभ्यां दुर्जना दूरीक्रियन्ते तथा त्वयापि ते दूरीकर्तव्या इति बाहुत्व-व्यपदेशः । ऊर्णम्रदसमूर्णमिव मृदुतरं स्वासस्थं शोभन आसने महासने स्थितं त्वा त्वां देवेभ्यो विद्वद्भ्यः स्तृणाम्या-च्छादयाम्याशीर्वचोभिरितिशेषः । विद्वत्सेवार्थं विद्वद्रक्षार्थं च त्वामाशीःपुरस्सरं नियोजयामीतिभावः । किं च त्वा त्वाम् । वसवो रक्षकाः प्रजानाम् । रुद्रा रोदयितारो दुर्जनानाम् । इत्थंभूता आदित्या अदीना अखण्डिता अखण्डनीयाः वा लोका आ सदन्तु आसीदन्तूपतिष्ठन्ताम् ॥५॥

भावार्थ—आचार्य शिष्यसे कहता है कि तू ज्ञानप्रकाशसे प्रकाशित है । परमेश्वर सब प्रकारके अनिष्टसे तेरी रक्षा करे । किं च तू परमेश्वरका बाहु है । तुझे दुर्जनोंको दूर करना चाहिये । अर्थात् दुर्जनोंको सज्जन बनाना चाहिये । तू सुन्दर पदपर सुशोभित है । अतः विद्वानोंकी सेवा और रक्षाके लिये मैं तुझे नियुक्त करता हूं । प्रजाकी रक्षा करने वाले, दुर्जनोंको दण्डादि देकर रुलानेवाले अदीन अर्थात् समर्थ लोक तेरा सत्कार करें ॥५॥

घृताच्यसि जुहूर्नाम्ना सेदं प्रियेण धाम्ना प्रियꣳ सद आसीद घृताच्यस्युपभृन्नाम्ना सेदं प्रियेण धाम्ना प्रियꣳ सद आसीद घृताच्यसि ध्रुवा नाम्ना सेदं प्रियेण धाम्ना प्रियꣳ सद आसीद। प्रियेण धाम्ना प्रियꣳ सद आसीद ध्रुवा असदन्नृतस्य योनौ ता विष्णो पाहि पाहि यज्ञं पाहि यज्ञपतिं पाहि मां यज्ञन्यम् ॥६॥

ऋषिः परमेष्ठी प्रजापतिः। नैतच्छन्दोबद्धं काव्यम्। वाक्यमेवैतत्।

आचार्यः शिष्यमुपदिशति–हे शिष्य त्वं जुहूरसि सर्वेभ्यो विद्याप्रदातासि। हु दानादनयोः। अत एव घृताच्यसि दीप्त्या हेतोः पूजितोसि। घृ क्षरणदीप्त्योः। अञ्चु गतिपूजनयोः। सा त्वं प्रियेण तर्पकेण प्रसादकेन नाम्ना नम्रत्वेन धाम्ना तेजसा च। प्रियं सर्वेषां तर्पके। सद आसने। सप्तम्यर्थे द्वितीया। आसीदोपविश। एवं त्वमुपभृत्समीपस्थानां सर्वेषां ज्ञानदानेन पोषकोसि। डुभृञ् धारणपोषणयोः। उपेत्युपसर्गः सामीप्य-वाचकः। अत्र च योग्यत्वेन समीपस्थवाचकः। एवं त्वं ध्रुवा स्थिरोसि ज्ञानेन स्वभावेन च। द्विरुक्तिर्दार्ढ्यार्था। ध्रुवा असदन्निति। परमात्मानं प्रार्थयत आचार्यः–ऋतस्य सत्यस्य सर्वगतस्य वा हे परमात्मन्, तव योनौ सम्पर्के। यु मिश्रणा-मिश्रणयोः। मिश्रणं सम्पर्कः। ताः असदन् सर्वाः प्रजा-स्तिष्ठन्ति। हे विष्णो सर्वव्यापक, ताः पाहि रक्ष। यज्ञं

सकलं सत्कर्म पाहि। यज्ञपतिं सत्कर्मकर्तारं पाहि। यज्ञन्यं सत्कर्म शिष्यं नेतारं मामाचार्यमपि पाहि। सेत्यादि स्त्रीत्वमनपेक्षणीयम् ॥६॥

भावार्थ—आचार्य शिष्यको उपदेश देता है कि तू सर्वविद्याओंका सबको दान करनेवाला है, अत एव सबसे पूजित है। अतः जिसपर बैठकर सबको प्रसन्न किया जाता है ऐसे आसनपर बैठ। अपने पास बैठने वाले सभीको ज्ञानदान देकर पोषण कर—रक्षण कर। तू ज्ञान और स्वभावसे स्थिर है। अब आचार्य परमेश्वरसे प्रार्थना करता है—हे परमेश्र सभी प्रजा तुम्हारे सम्पर्कमें है। अतः तू उनकी रक्षा कर। सफल सत्कर्म और सत्कर्मोंके करनेवालों की रक्षा कर। साथ ही सत्कर्ममें जानेकी प्रेरणा देने वाले मेरी भी रक्षा कर ॥६॥

अग्ने वाजजिद्वाजं त्वा सरिष्यन्तं वाजजित॒ सम्मार्ज्मि। नमो देवेभ्यः स्वधा पितृभ्यः सुयमे मे भूयास्तम् ॥७॥

ऋषिः परमेष्ठी प्रजापतिः। भुरिक् पङ्क्तिश्छन्दः।

हे अग्ने ज्ञानप्रकाशयुक्त शिष्य, त्वं वाजजिदसि ब्रह्मप्राप्तिकर्तासि। वज गतौ। सर्वत्र वजति व्रजतीति वजः। वज एव वाजः परमात्मा। तं धर्मेण सदाचारेण च जयतीति। सदाचारिणा सदैव ब्रह्म जितमस्तीति। किं च वाजजितमिन्द्रियजितं निर्विकारं परमात्मानं प्रति सरिष्यन्तं गमिष्यन्तं त्वा त्वाम्। संमार्ज्मि पवित्रं करोमि। त्वं पवित्र एवासि तथापि त्वां

पावयामि। अधिकस्याधिकं फलमिति भावः। गुरुजनस्यौचित्य-मेतत्। त्वं सदा देवेभ्यो विद्वद्भ्यो नम इति ब्रूयाः। सर्वदा योग्या नमस्कर्तव्या इति भावः। पितृभ्यः पित्रे पितृतुल्येभ्यश्चा-न्येभ्यः स्वधेति ब्रूयाः। सर्वदा गुरुजनो नमस्कर्तव्य इति भावः। शिष्य आचार्यं प्रार्थयते—सुयमे सम्यङ् नियम्ये मे मम मनोबुद्धी भूयास्तं भूयास्तामिति पुरुषव्यत्ययश्छान्दसः ॥७॥

भावार्थ—आचार्य शिष्यसे कहता है कि—तू सदाचारादिसे ब्रह्मका विजेता है। सदाचारसे ही परमेश्वरको वशमें किया जा सकता है। परमात्मा स्वयं जितेन्द्रिय है—निर्विकार है, उसकी ओर जाने वाले तुझे मैं पवित्र करता हूं। शिष्यको अधिक पवित्र बनाना आचार्यका धर्म ही है। तू सदा विद्वानों और अपने सम्बन्धी महाजनोंको आदरसे नमस्कार करता रहे। शिष्य गुरुसे प्रार्थना करता है—ऐसी कृपा आप करें कि मेरा मन और बुद्धि सदा नियन्त्रित रहे ॥७॥

अस्कन्नमद्य देवेभ्य आज्य ँ संभ्रियासमङ्घ्रिणा विष्णो मा त्वावक्रमिषं वसुमतीमग्ने ते च्छायामुप-स्थेषं विष्णोः स्थानमसीत इन्द्रो वीर्यमकृणोदूर्ध्वो-ऽध्वर आस्थात ॥८॥

ऋषिः परमेष्ठी प्रजापतिः। विराट् पङ्क्तिश्छन्दः।

देवेभ्यो विद्वद्भ्यः सज्जनेभ्यः। अस्कन्नमशुष्काम् उत्तमा-मितियावत्। स्कन्दिर् गतिशोषणयोः। आज्यं गतिम्। संभ्रियासं संबिभृयां धारयेयमिति यावत्। विद्वत्सु सुष्ठूपचारं

कुर्यामितिभावः । अङ्घ्रिणा पादेन पादगत्याचारेणेति यावत् । हे विष्णो सर्वव्यापक परमेश्वर, त्वा मा अवक्रमिषमवक्रान्तं मा कुर्यामितिभावः । इति प्रतिज्ञायोपासकः शिष्यः पुनर्वदति—ते तव वसुमतीं निवासदात्रीं निवासदातारम् । छायामाश्रयम् । उपस्थेषं सेवेय । आचार्यः प्रसन्नो भूत्वाह—त्वं विष्णोः परमेश्वरस्य । स्थानमसि निवासस्थानमसि । परमेश्वरस्त्वयि निवसतीतिभावः । इतः पारमेश्वरादेवाश्रयादिन्द्रो जीवः पूर्वतनः सर्वः । वीर्यं पराक्रमं शक्तिमिति यावत् । अकृणोत् प्राप्नोत् । इत एवाध्वरे सर्वस्मिन् पवित्रे कर्मणि । ऊर्ध्वः उन्नतः प्रतिष्ठितः । आस्थादभूत् ॥८॥

भावार्थ—उपासक परमेश्वरसे प्रार्थना करता है कि—मैं विद्वानोंके प्रति सदा उत्तम व्यवहार करता रहूं । अपने आचरणसे मैं तुम्हारा भी कभी अपमान न करूं । तुम्हारी आश्रयदात्री छायाका मैं सदा आश्रय लेता रहूं । इतना शिष्यवचन परमेश्वरके प्रति सुनकर आचार्य प्रसन्न होकर बोलता है—तू परमेश्वरका निवासस्थान है । परमेश्वरके आश्रयसे ही पूर्वसमयके जीव शक्ति प्राप्त कर सके थे । इसीसे सभी पवित्र कर्मोंमें पूर्वके जीव उन्नत हुए थे ॥८॥

अग्ने वेर्होत्रं वेर्दूत्यमवतां त्वा द्यावापृथिवी अव त्वं द्यावापृथिवी स्विष्टकृद्देवेभ्य इन्द्र आज्येन हविषा भूत्स्वाहा सं ज्योतिषा ज्योतिः ॥९॥

ऋषिः परमेष्ठी प्रजापतिः । जगती छन्दः ।

हे अग्ने परमात्मन् होत्रं मदीयं दत्तं हुतं समर्पितं मनो मदीयं सर्वं च वस्तु वेर्जानीहि स्वीकुर्वित्यर्थः। विद ज्ञाने। वृत्यं गमनं त्वच्छरणागतिमित्यर्थः। मत्कृतामितिभावः। वेर्जानीहि। अथवा टुदु उपतापे। मदीयं मानसं दुःखं त्वं जानीहि। परमात्माश्वासयति—त्वां भक्तं परोपकारिणं च द्यावापृथिवी द्यावापृथिव्याववतां रक्षताम्। किं च त्वमपि द्यावापृथिवी द्यावापृथिव्योर्वर्तमानान्पदार्थाञ्जीवांश्च। अव रक्ष। देवेभ्यः सज्जनेभ्यः। स्विष्टकृच्छोभनमिष्टं करोतीति तथाभूतः। इन्द्रो जीवः। आज्येनाचारेण सह। अज गतौ। हविषा दानादिपुण्यकर्मणा च सह भूत् भवतु। छान्दसं रूपम्। ज्योतिषा तेजसा धर्म्यकर्मजातेन। ज्योतिस्तेजः प्रकाशं त्वमिति शेषः। सम् संगच्छस्व। उपसर्गवशाद्धातोः परिकल्पनम्। स्वाहा उपासक आह—सु आ हा सम्यगहं त्वदुपदेशं गृह्णामि। ओहाङ् गतौ ॥९॥

भावार्थ—जीव परमेश्वरसे प्रार्थना करता है कि मेरे दुःखकी ओर आप देखें। मेरा सब कुछ आपको ही समर्पित है। ईश्वर भक्तको आश्वासन देते हैं कि तुम सबकी रक्षा करते रहो, सब तुम्हारी रक्षा करेंगे। सज्जनोंका हित करने—वाले जीव आचार-विचारसे संयुक्त बनो। इस रीतिसे धर्मसे उत्पन्न हुए तेजके साथ ज्ञानस्वरूप तू मिल जा—अभिन्न बन जा ॥९॥

मयीदमिन्द्र इन्द्रियं दधात्वस्मान् रायो मघवानः सचन्ताम् । अस्माकꣳ सन्त्वाशिषः सत्या नः सन्त्वाशिष उपहूता पृथिवी मातोप मां पृथिवी माता ह्वयतामग्निराग्नीध्रात्स्वाहा ॥१०॥

ऋषिः परमेष्ठी प्रजापतिः । भुरिग् ब्राह्मी पङ्क्तिश्छन्दः ।

इन्द्रः सर्वैश्वर्यः परमात्माचार्यो वा मय्युपासके शिष्ये वा । इदमपेक्षितम् । इन्द्रियमिन्द्रियोपकारकम् । धनं वा दधातु धारयतु । इन्द्रियमिति धननाम (निघ. २।१०।१४) । धनमत्र लौकिकं पारलौकिकं च प्रार्तिथिषितम् । मघवानः पूज्याः । मह पूजायाम् । अस्मान् परोपकारनिरतान् । सचन्तां समवयन्तु । षच समवाये । रायो धनानि च ज्ञानरूपाणि लोकोपकाररूपाणि च सचन्ताम् । अस्माकमुपासकानाम् । आशिषोभिलाषाः । सन्तु सिध्यन्तु । पुनरुच्यते–ते सर्व एवाभिलाषाः सत्याः सन्तु । यदिष्यते परोपकृतये तद्भवत्विति भावः । पृथिवी मातेत्युपहूता मातृशब्देन व्यवहृता । ततो माता पृथिवी । माम् उप उपगच्छतु । अहं भूमान् भवेयमितिभावः । किंचाग्निर्गतिशीलो यः कोपि वा । मां ह्वयतां मज्ज्ञानसमृद्धिसम्पादनार्थमाह्वयतु माम् । आग्नीध्राज् ज्ञानाग्निसमिन्धनाद्धेतोः । स्वाहा स्वमहमा समन्ताद् हा त्यक्ष्यामीति भावः ॥१०॥

भावार्थ–परमेश्वर अथवा आचार्य मुझ उपासक अथवा शिष्यमें अपेक्षित इन्द्रियोंके उपकारक पदार्थ अथवा लौकिक धन द्रव्यादि तथा पारलौकिक धन–दया, प्रेम वात्सल्य, तिति-

क्षादि—स्थापित करे। परोपकारमें निरत हमारे पास .पूज्यजन उपस्थित हों एवं ज्ञानरूप धन तथा परोपकाररूप धन भी उपस्थित हो। हम उपासकोंकी इच्छाएं सिद्ध हों। पृथिवी हमारी माता है अतः वह भी हमारे पास आवे और हम भूपति बनें। गतिशील कोई भी महान्-पुरुष हमारी ज्ञान-समृद्धिके लिये हमें बुलावे। ज्ञानाग्निसमृद्धिसे ही हम अपने स्वत्व अर्थात् अहङ्कारादिका त्याग कर सकते हैं ॥१०॥

उपहूतो द्यौष्पितोप मां द्यौष्पिता ह्वयतामग्नि-राग्नीध्रात्स्वाहा। देवस्य त्वा सवितुः प्रसवेऽश्विनो-र्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्याम् प्रतिगृह्णाम्यग्नेष्ट्वास्येन प्राश्नामि ॥११॥

ऋषिः परमेष्ठी प्रजापतिः। देवस्य त्वेत्यस्याङ्गिरसो बृहस्पतिर्वा ऋषिः। ब्राह्मी बृहती छन्दः।

द्यौः कान्तिमान् प्रकाशवान्। पिता रक्षकः परमात्मा। उपहूतो मया। स च मामुपह्वयताम्। मया तथात्मा परिशो-धनीयो यथा परमात्मा मामङ्गीकुर्यादितिभावः। [अग्नि-राग्नीध्रात्स्वाहेति त्रिपदी व्याख्याता। देवस्य त्वेत्या-द्यसकृद्व्याख्यातम्।]* अग्नेष्ट्वास्येनेत्यादि व्याख्यायते—अग्नेर्गुरोरास्येन मुखात्त्वोपदेश्यं ज्ञानमाचारं वा प्राश्नामि प्राशयामि शिक्षयामि ॥११॥

भावार्थ—मैं परमात्माको स्मरण करता हूँ, वह मेरा

* देखिये—पृष्ठ ६७ तथा पृष्ठ १६।

स्मरण करे। यह नियम है कि जो जिसका स्मरण करता है वह भी उसका स्मरण करता है। हम ऐसे पवित्र बनें कि परमेश्वर हमारा स्मरण करे। एवं गुरुके मुखसे ज्ञान और आचारको मैं तुझे सिखाता हूँ। अर्थात् गुरुमुखसे जो ज्ञान प्राप्त किया गया हो उसे सबको देना-सिखाना चाहिये ॥११॥

एतं ते देव सवितर्यज्ञं प्राहुर्बृहस्पतये ब्रह्मणे।
तेन यज्ञमव तेन यज्ञपतिं तेन मामव ॥१२॥

ऋषिः परमेष्ठी प्रजापतिः। आङ्गिरसो बृहस्पतिर्वा। भुरिग् बृहती छन्दः।

हे देव दिव्यगुणयुक्त। सवितः सर्वोत्पादक परमेश्वर। ते तव। एतं यज्ञं पूजकमुपासकम्। यज देव-पूजा-संगतिकरण-दानेषु। बृहस्पतये बृहतां महतां पतये। ब्रह्मणे बृंहणकर्त्रे जगन्निर्मात्रे तुभ्यं प्राहुर्विद्वांसः इति शेषः। त्वदर्थमेवायमुपासक इति भावः। अथवा षष्ठ्यर्थे चतुर्थी। तवेतिभावः। तेन हेतुना। यज्ञमुपासकमिमम्। अव रक्ष। तेन यज्ञपतिं यज्ञपालकमुपासक-पितरमिति भावः। तेन च मामुपासकस्याचार्यमपि। अव रक्ष। आचार्यः परमात्मनि शिष्यं समर्पयति। सौहृदय्याच्छिद्र-व्यजनकमपि स्वात्मानमपि परमेश्वरचरणेष्वर्पयतीति ॥१२॥

भावार्थ—आचार्य परमेश्वरसे निवेदन करता है कि इस उपासक शिष्यको, हे दिव्यगुणयुक्त परमेश्वर, सब विद्वानोंने "तुम्हारे लिये ही यह है" ऐसा कहा है। अतः तुम इसकी

रक्षा करो, इतना ही नहीं, इस पवित्रात्माके जन्मदाताको भी मैं आपके चरणोंमें तल्लीन बनाता हूँ ॥१२॥

मनो जूतिर्जुषतामाज्यस्य बृहस्पतिर्यज्ञमिमं तनोत्वरिष्टं यज्ञꣳसमिमं दधातु। विश्वे देवास इह मादयन्तामो३प्रतिष्ठ ॥१३॥

ऋषिः परमेष्ठी प्रजापतिः। आङ्गिरसो बृहस्पतिर्वा। विराड् जगती छन्दः।

वात्सल्यपूर्णहृदयस्याचार्यस्योक्तिरियम्—जूतिर्गमनशीलम्। मनो ज्ञानम्। आज्यस्य जगत्सर्जकस्य जगद्विलयकर्तुश्च व्यापकस्य परमात्मनः। अज गतिक्षेपणयोः। द्वितीयार्थे षष्ठी। परमात्मानमितिभावः। जुषतां सेवताम्। बृहस्पतिर्बृहतां पतिः परमेश्वरः। इमं पुरस्तादुपस्थितम्। यज्ञमुपासकम्। सप्तम्यर्थे द्वितीया। अस्मिन् यज्ञ उपासके। अरिष्टं कल्याणम्। संदधातु धारयतु स्थापयतु। किं चेहास्मिन्नुपासके। विश्वेदेवासः सर्वे विद्वांसः। मादयन्तु मोदं प्राप्नुवन्तु प्रसन्ना भवन्त्विति तात्पर्यम्। मद तृप्तियोगे। चौरादिकः। ओ३म् हे सर्वरक्षक परमात्मन्। अवतीत्योम्। अव्ययपदमेतत्। "दूराद्धूते च" (पा. ८।२।८४) इति टिः प्लुतः। दौर्यमज्ञानवशात्कल्पितं तदेवात्रानूदितम्। प्रतिष्ठ प्रकर्षेण तिष्ठास्मिन्नुपासक इत्याचार्योक्तिः ॥१३॥

भावार्थ—आचार्य शिष्यसे कहता है कि तेरा मन परमात्मामें लीन बने। परमेश्वर तेरा कल्याण करे। सामान्य-

रीतिसे आचार्य पुनः कहता है कि सभी विद्वान् इस शिष्यपर प्रसन्न होवें। पुनः परमेश्वरसे प्रार्थना करते हैं कि हे सर्वरक्षक ईश्वर, इस उपासकके हृदयमें तुम निवास करो ॥१३॥

एषा ते अग्ने समित्तया वर्धस्व चा च प्यायस्व। वर्धिषीमहि च वयमा च प्यासिषीमहि। अग्ने वाजजिद्वाजं त्वा ससृवांऽसं वाजजितऽ सम्मार्ज्मि ॥१४॥

ऋषिः परमेष्ठी प्रजापतिः। एषा त इत्यारभ्य प्यासिषीमहीति यावदनुष्टुप् छन्दः ; ततः परं भुरिगार्ची गायत्री छन्दः।

हे अग्ने गतिशील पुत्र। पित्रुक्तिरियम्। एषा एष आचार्यः। ते तव। समित्समिन्धनकर्ता सम्यक् प्रदीपयितास्ति। समिदित्यनुलक्ष्य एषेत्यत्र स्त्रीत्वम्। तया तेन हेतुना। वर्धस्व ज्ञानवृद्धिं वयोवृद्धिं च प्राप्नुहि। आ प्यायस्व च तृप्तिं च लभस्व। ज्ञानोदयात् तृप्तिरनिवार्या। वयं च सर्वे। वर्धिषीमहि त्वां पुत्रं ज्ञानवृद्धं दृष्ट्वा वृद्धिं प्राप्स्यामः। न केवलं वृद्धिं गमिष्यामः प्रत्युत आ प्यासिषीमहि सर्वथा तृप्ता भविष्यामः। ओ प्यायी वृद्धौ। अत्र तृप्तौ। अतः परमाचार्योक्तिः। हे अग्ने प्रकाशशील शिष्य, त्वं वाजजिदसि ज्ञानजिदसि। ज्ञानं प्राप्तवानसि। वाजं ज्ञानं ससृवांसं प्राप्तवन्तम्। सृ गतौ। तेन च वाजजितं परमात्मजितम्। वाज्यतेर्च्यते इति वाजः परमात्मा। तं जयतीति वाजजित्। अजेयोपि परमेश्वरो भक्तेनावर्जितो जितश्च भवति। वाजयतीत्यर्चतिकर्मा (निघ. ३।१४।३६)। त्वां संमार्ज्मि जलादिभिस्तव मार्जनं करोमि।

प्राप्तविद्येन शिष्येण गृहं गन्तव्यमिति शिष्यकल्याणार्थमाचार्यो जलादिभिर्मार्जनं कृत्वा गृहं प्रेषयतीति सम्प्रदायः ॥१४॥

भावार्थ—पिता पुत्रसे कहता है कि यह आचार्य तेरी वृद्धि करनेवाले हैं। अतः तू इनके समीप रहकर ज्ञानको प्राप्त कर एवम् उससे तृप्ति-लाभ कर। हम सब तुझे ज्ञानसमृद्ध देखकर तृप्त बनेंगे। अब आचार्य कहते हैं—हे प्रकाशशील शिष्य, तू ज्ञान प्राप्त कर चुका है। ज्ञानसे तूने परमेश्वरको भी वशमें कर लिया है। अब मैं तुझे घर लौट जानेके लिये जलादिसे प्रोक्षण करके इस आश्रमसे बिदा करता हूँ। ब्रह्मचर्यपूर्वक वेदाध्ययनके पश्चात् यह आचार्योक्ति है ॥१४॥

अग्नीषोमयोरुज्जितिमनूज्जेषं वाजस्य मा प्रसवेन प्रोहामि। अग्नीषोमौ तमपनुदतां योऽस्मान् द्वेष्टि यं च वयं द्विष्मो वाजस्यैनं प्रसवेनापोहामि। इन्द्राग्न्योरुज्जितिमनूज्जेषं वाजस्य मा प्रसवेन प्रोहामि। इन्द्राग्नी तमपनुदतां योऽस्मान् द्वेष्टि यं च वयं द्विष्मो वाजस्यैनं प्रसवेनापोहामि ॥१५॥

ऋषिः परमेष्ठी प्रजापतिः। ब्राह्मी बृहती छन्दः पूर्वार्धे। उत्तरार्धे तु निचृद् अतिजगती छन्दः।

अग्नीषोमयोरग्नेश्चन्द्रमसश्चोज्जितिमनु उज्जयनमुत्कृष्टं जयनं तदनु अनुलक्ष्य लक्ष्यीकृत्येतियावत्। वाजस्य ज्ञानस्य प्रसवेनोत्पादनेन। मा मां प्रोहामि प्रोत्साहयामि। अग्निशब्देन प्रकाशकमात्रं गृह्यते। एवं च यथा लौकिकोग्निः सूर्याचन्द्रमसौ

च स्वप्रकाशेन जगदुपकारं तन्वाना उत्कृष्टं जयमनुभवन्ति तथाहमपि ज्ञानदानप्रकाशनादिभिरुत्कृष्टं जयमनुभविष्यामि जगतीति ज्ञान-सम्पादन आत्मानं प्रोत्साहयामि वर्धयामीति वा पिण्डितार्थः। किं चाग्नीषोमौ तं दुष्कृतम्। अपनुदतां दूर-मपसारयताम् यो दुर्मुखोस्मान्निरपराधान्निर्दोषान्द्वेष्टि। स्वभावे किञ्चिदौष्ण्यं किञ्चिच्छैत्यं च संस्थाप्य स्वयं सूर्यरूपश्चन्द्र-रूपश्च भवन् दुर्जनं विनीतं कुर्यामिति तात्पर्यम्। यं च दुरात्मानं वयं द्विष्मस्तम्। वाजस्य ज्ञानस्य। प्रसवेनोत्पादनेन दानेन वा। अपोहामि दूरीकरोमि दुष्कृतादिति तात्पर्यम्। एवम् इन्द्राग्न्योः कस्यचिद्देवमुख्यस्य प्रकाशशीलस्याग्नेश्चोज्जिति-मनुज्जेषमित्यादि पूर्ववद्व्याख्येयम्। अग्नीषोमयोरित्यत्राग्नि-शब्दउच्चरितेपि पुनरिन्द्राग्न्योरित्यत्राग्निशब्दग्रहणं केवलं शब्दप्रयोगनिर्वाहार्थम्। यथाग्नीषोमयोः साहचर्यं तथेन्द्राग्न्यो-रपीति विज्ञेयम्। अग्निशब्दार्थस्तु न भिद्यते ॥१५॥

भावार्थ—जिस प्रकारसे लौकिक अग्नि, सूर्य तथा चन्द्रमा अपने प्रकाशद्वारा जगत्का उपकार करते हुए जय प्राप्त करते हैं वैसे ही मैं भी लोगोंको ज्ञानके दान और प्रकाशनादिसे उपकृत करूंगा, इस विचारसे सम्पादनमें अपनेको प्रोत्साहित करता रहता हूँ। किंच, जो दुर्जन हम लोगोंको अपराधके विना ही सताते हैं उन्हें हम दूर करें। तात्पर्य यह है कि बहुत शान्त भी न होकर और बहुत अशान्त भी न होकर दुर्जन-को हम सुजन-विनीत बनावें। इस मन्त्रके उत्तरार्धसे भी यही

बात कही गयी है। केवल वहां सम्बन्धी पद अग्नि-सोम न होकर इन्द्र और अग्नि आया है। शेष अर्थ सब समान ही है ॥१५॥

वसुभ्यस्त्वा रुद्रेभ्यस्त्वादित्येभ्यस्त्वा संजानाथां द्यावापृथिवी मित्रावरुणौ त्वा वृष्ट्यावताम्। व्यन्तु वयोऽक्तꣳ रिहाणा मरुतां पृषतीगच्छ वशा पृश्निर्भूत्वा दिवं गच्छ ततो नो वृष्टिमावह। चक्षुष्पा अग्नेऽसि चक्षुर्मे पाहि ॥१६॥

ऋषिः परमेष्ठी प्रजापतिः। पूर्वार्द्धे निचृदार्ची पङ्क्तिश्छन्दः। व्यन्तुवय इत्यारभ्य विराट् त्रिष्टुप् छन्दः।

आचार्य आशीर्वचोभिः शिष्यं स्नपयति—वसुभ्यो वासयितृभ्यो रुद्रेभ्यो रोदयितृभ्य आदित्येभ्योदीनेभ्यः समर्थेभ्यो विद्वद्भ्यस्त्वा त्वां रक्षितुं प्रार्थये। एते सर्वे त्वां रक्षन्त्वित्याशीरिति भावः। द्यावापृथिवी द्युलोकः पृथिवीलोकश्च त्वां संजानाथामवगच्छतां रक्षितुमितिशेषः। मित्रावरुणौ मित्रः सूर्यो वरुणो जलदेवता च त्वा त्वां वृष्ट्या जलवर्षणेनावतां रक्षताम्। किं च वयः पक्षिणो विविधाः शुकसारिकादयः। व्यन्तु तव सामीप्यं प्राप्नुवन्तु। वी गति-प्राप्ति-प्रजनन-कान्त्यसन-खादनेषु। किं भूता वयः? अक्तं भोजनमन्नादिकम्। अञ्जू व्यक्तिम्रक्षणकान्त्यसनखादनेषु। रिहाणा गृह्णानाः। रिह कत्थनयुद्धनिन्दाहिंसादानेषु। हिंसादानेष्वित्यत्र हिंसा च आदानं चेत्यर्थः। आदानं ग्रहणम्। त्वया गृहस्थधर्ममवलम्ब्य पक्षिभ्योप्यन्नादिकं तृप्त्यर्थं देयमिति भावः। किं च त्वं महतां

देवानां विदुषामित्यर्थः। पृषतीः सेचनं रक्षणमितिभावः। पृषु सेचने। "वर्तमाने पृषन्महत्०" (उ. २।८४) इति उणादिसूत्रेण सिद्धम्। गच्छ प्राप्नुहि। विद्वांसस्त्वां रक्षन्त्विवतिभावः। वशा वशीत्यर्थः। जितेन्द्रिय इति तात्पर्यम्। पृश्निरल्पशरीरः। शरीरे स्थौल्यं स्वास्थ्यहरमित्यल्पशरीरत्वस्याशीः। "घृणि-पृश्नि०" (उ. ४।५२) इति निपातितः। भूत्वा भवन् सन्नित्य-भिप्रायः। दिवं मोदमानन्दं गच्छ। ततस्तदनन्तरम्। नोस्माकं मत्सहितानामत्रत्यानां सर्वेषामाश्रमवासिनाम्। वृष्टिं सेचनं तृप्तिमिति यावत्। आ वह प्रापय। हे अग्ने परमबुद्धिशालिन् शिष्य चक्षुष्पा ज्ञानरक्षकोसि। चष्टे व्यक्तं वदति येन तज्ज्ञानम्। ज्ञानवान् हि व्यक्त वदितुमर्हति। चक्षिङ् व्यक्तायां वाचि। "चक्षेः शिच्च" (उ० २।११९)। मे मम मया दत्तमिति यावत्। चक्षुर्ज्ञानम्। पाहि रक्ष वर्धये-त्यर्थः ॥१६॥

भावार्थ–आचार्य स्नातक शिष्यको आशीर्वाद देता है– सबको निवास देनेवाले धनिकों, सब दुष्टोंको दण्ड देनेवाले न्यायी पुरुषों और समर्थ विद्वानोंसे तेरी रक्षाकी प्रार्थना करता हूं। सब तेरी रक्षा करें। द्युलोक और पृथिवी लोक भी तेरी रक्षा करें। अर्थात् इन दोनों लोकोंके अपेक्षित पदार्थ तुझे तृप्त रखें। सूर्य और जलदेवता वृष्टिद्वारा तेरी रक्षा करें। अपने योग्य भोजन अन्नादिको प्राप्त करते हुए पक्षिगण भी सदा तेरे पास रहें। विद्वान् तेरी रक्षा करते रहें। तू जितेन्द्रिय और अस्थूल शरीरवाला रहकर आनन्दको प्राप्त कर। इससे

हम सब आश्रमवासियोंको आनन्दित कर। हे बुद्धिशालिन् शिष्य, मुझसे प्राप्त ज्ञानका तू रक्षक है—मेरे ज्ञानका रक्षक है। मुझसे प्राप्त ज्ञानकी तू सदा रक्षा करता रहे ॥१६॥

यं परिधिं पर्यधत्था अग्ने देवपणिभिर्गुह्यमानः। तं त एतमनु जोषं भराम्येष नेत्त्वदपचेतयाता अग्नेः प्रियं पाथोऽपीतम् ॥१७॥

ऋषिर्देवलः। निचृद् जगती छन्दः।

हे अग्ने गतिशील देव दिव्यगुणयुक्त प्रियशिष्य। पणिभिः स्तोतृभिः। पणन्त इति पणिनस्तैः। पण स्तुतौ। पणतिरर्चतिकर्मा (निघ०)। गुह्यमानः संव्रियमाणः। परि परितः स्थितैः स्तोतृभिर्भगवद्भक्तैः परिव्रियमाण इत्यर्थः। त्वं यं परिधिं परितः सर्वधारकं परमात्मानम्। पर्यधत्था धृतवानसीत्यर्थः। तम् एतं जोषं प्रियम्। जुषी प्रीतिसेवनयोः। ते तुभ्यम्। अनुभरामि द्रढयामि। डुभृञ् धारणपोषणयोः। न तु हृञ् हरणे। एष त्वया धृतः परमेश्वरः। त्वत्त्वत्तः। न इत् नैव। अप चेतयातै त्वां परिहाय न गच्छत्विति भावः। त्वं स्वयमग्निः सन्नग्नेः सर्वव्यापकस्य परमात्मनः। प्रियं प्रियकरः। पाथो गम्यः। पथि गतौ। अन्नं वा। ग्राह्य इत्यर्थः। इतमपि परमात्मानं प्राप्तोऽस्यसि। इतमिति न क्रियापदम्। एतेः क्तः। लिङ्गव्यत्ययश्छान्दसः ॥१७॥

भावार्थ—हे प्रियशिष्य, स्तोताओंसे—भगवद्भक्तोंसे चारों ओरसे घिरा हुआ तू सर्वाधार परमात्माको प्राप्त है। उस प्रिय

परमात्माको मैं तेरे हृदय में दृढ करता हूँ। तुझसे सेवित अथवा स्मृत परमेश्वर तुझे कभी नहीं छोड़ेगा। तू स्वयं भी अग्नि-समान प्रकाशमान है। अतः सर्वव्यापक प्रकाशस्वरूप परमात्मा-का तू ग्राह्य है। वह ईश्वर तेरा ग्रहण अवश्य करेगा। ईश्वर सर्वगत है-व्यापक है-प्रथमसे ही तुझमें भरा हुआ है—तो भी तू उसे प्राप्त है। १७॥

सꣳस्रवभागा स्थेषा बृहन्तः प्रस्तरेष्ठाः परिधेयाश्च देवाः। इमां वाचमभि विश्वे गृणन्त आसद्यास्मिन् बर्हिषि मादयध्वꣳ स्वाहा वाट् ॥१८॥

ऋषिः परमेष्ठी प्रजापतिः। स्वराट् त्रिष्टुप् छन्दः।

आचार्यः शिष्यानुपदिशति—यूयं संस्रवभागाः स्थ संस्रवस्याज्ञानस्य। भागा भजनीयाः स्थ। यूयमिदानीमज्ञाना ब्रह्मज्ञानविहीनाः स्थेत्यर्थः। प्रस्तरेष्ठाः प्रस्तरे ज्ञाने स्थिताः स्थ। प्रस्तरे तिष्ठन्तीति प्रस्तरेष्ठाः। स्तृञ् आच्छादने। अज्ञानं हि ज्ञानमाच्छादयति। इषा गत्या। दैवादिको धातुरिष गतौ। ज्ञानेनेत्यर्थः। गत्यर्थो धातुर्ज्ञानार्थोऽपि भवति। बृहन्तो महान्तः। परिधेयाः परितो धातव्या धारणीयाः। डुधाञ् धारणपोषणयोः। देवाश्च भविष्यथ। यूयं विश्वे सर्वे। इमां मदीयामुच्यमानामुक्तां चोपदेशरूपामध्यापितां विद्यां वा। गृणन्तोऽन्तर्धारयन्तः। गॄ निगरणे। अस्मिन् बर्हिष्यवकाशे। ज्ञानवृद्धिकाले वा मादयध्वं मोदध्वम्। ततश्च स्वाहा सु आ हा। ओहाङ् गतौ। शोभनगतिसम्पन्नाः। वाट् वाहः। वह

प्रापणे । अन्येषामप्यस्या एव गतेः प्रापका भवत । वाडित्येक-वचनमार्षमव्ययपदं वा ॥१८॥

भावार्थ–आचार्य शिष्यको उपदेश देता है—तुम लोग ज्ञानके उपासक हो । तुम अभी ब्रह्मज्ञान-विहीन हो । अज्ञानमें ही स्थित हो । गुरुकुलनिवासानन्तर स्नातक बननेके पश्चात् आचार्य उपदेश देता है कि तुम लोग विद्वान् बने रहो । सदा प्रसन्न रहो । तथा ऐसे ही सुन्दर ज्ञानसे युक्त रहो ॥१८॥

घृताची स्थो धुर्यौ पात९ सुम्ने स्थः सुम्ने मा धत्तम् । यज्ञ नमश्च त उप च यज्ञस्य शिवे सन्तिष्ठस्व स्विष्टे मे सन्तिष्ठस्व ॥१९॥

ऋषिः परमेष्ठी प्रजापतिः । भुरिक् पङ्क्तिश्छन्दः ।

पतिपत्न्यौ पुरोहित आचार्यो वाशीर्भिः संमिश्रयति–युवा घृताची प्रकाशयुक्तौ स्थः । घृ क्षरणदीप्त्योः । अञ्चु गति-पूजनयोः । घृतेन दीप्त्या सम्पन्नौ स्थः । अतश्च धुर्यौ गार्ह-स्थ्यभारवहनसमर्थौ । स्थ । सुम्ने सुखे स्थः । पातं पतनम् । मा धत्तं धारयतम् । कथञ्चिदुभयोः पतनं मा भूदिति भावः । हे यज्ञ सर्वपूजित शिष्य । नमश्च ते तव वृद्धयर्थमुपायमुपबोध-यामीति शेषः । कश्च स उपायः ? उच्यते । यज्ञस्य परमात्मो-पासकस्य धर्मात्मन इति भावः । शिवे कल्याणे कल्याण-सम्पादनकार्ये इति भावः । सन्तिष्ठस्व सम्यक् तिष्ठ वर्तस्व । एवं च मे मम । स्विष्टे सुतरामिष्टे धर्मे सन्तिष्ठस्व वर्तस्व । कल्याणमार्गे तव सदा प्रवृत्तिर्वृत्तिश्च भवेदित्येव ममाभिप्रेत-

मित्याचार्यस्य पुरोहितस्य वोभयोर्वोक्तिः ॥१९॥

भावार्थ–पुरोहित अथवा आचार्य, स्नातक शिष्य और उसकी पत्नीको उपदेश देते हैं कि तुम दोनों प्रकाशमान बने रहो। गृहस्थाश्रमके भारको योग्यतासे वहन करो। सुखमें रहो। कभी तुम्हारा पतन न हो। हे सर्वपूजित शिष्य, तेरी उन्नतिका उपाय मैं बताता हूँ, वह यह कि ईश्वरभक्त अथवा धर्मात्माके कल्याणसम्पादनमें सदा स्थिर रहना। ऐसा करोगे तो अवश्य ही तुम मेरे इष्ट मार्गपर चल रहे हो, ऐसा समझना ॥१९॥

अग्नेऽदब्धायोऽशीतम पाहि मा दिद्योः पाहि प्रसित्यै पाहि दुरिष्ट्यै पाहि दुरद्मन्या अविषं नः पितुं कृणु। सुषदा योनौ स्वाहा वाडग्नये संवेशपतये स्वाहा सरस्वत्यै यशोभगिन्यै स्वाहा ॥२०॥

ऋषिः परमेष्ठी प्रजापतिः। भुरिग् ब्राह्मी त्रिष्टुप् छन्दः।

गुरुकुलान्निवर्तमानः स्नातकः स्वाचार्यं प्रार्थयते–हे अग्ने प्रकाशस्वरूप। अदब्धायो न दब्धा हिंसिता अयोग्यतया पीडिता आयवो मनुष्याः शिष्या इति भावः। यस्य सोदब्धायुस्तत्सम्बुद्धौ। हे अशीतम सर्वज्ञानसम्पन्न। अश्नुते व्याप्नोति सर्वेषु ज्ञानेषु यः सोशी। अशूङ् व्याप्तौ। अथवा शो तनूकरणे। न शायते तनूक्रियते केनापीत्यशी। अतिशयेनाशी अशीतमः। अशीत्यत्र च्छान्दस इन्प्रत्ययः। छान्दस एव ह्रस्वत्वाभावः। आचार्य, मा माम्। दिद्यो दुःखात्। दोवखण्डने। द्यत्यवखण्डयति

पीडयतीति दिद्युः । पृषोदरादित्वात्समीहितसिद्धिः । पाहि रक्ष । प्रसित्यै प्रसितेर्बन्धनाद् नाशाद्वा पाहि । षोन्तकर्मणि । पञ्चम्यर्थिका चतुर्थी । अग्रेप्येवम् । दुरिष्टयै दुरिष्ट्या दुरिच्छातः पाहि रक्ष । किं च दुरद्मन्या दुष्टभोजनान्मांसादिभक्षणप्रसङ्गादपि मां पाहि । नो मम । एकार्थे बहुवचनमार्षम् । पितुमन्नादि भक्ष्यम् । पितुरित्यन्ननाम (निघ० २।७।६) । पा रक्षणे । "कमिमनिजनिभायागापाहिभ्यश्च" (उ० १।७०) इति तुप्रत्ययो बाहुलकादिकारश्च । पाति रक्षतीति पितुः । अविषं निर्विषमारोग्यकारकम् । कृणु कुरु । किं च सुषदा सुषदायाम् । विभक्तेराकारः । सुखेन सदनयोग्ये । योनौ स्थाने । योनिरिति गृहनाम (निघ० ३।४।१४) । स्वाहा सु आ हा सुखेन समन्ताद् गतिर्निवासः स्यादिति भावः । अग्नये वाट् अग्निं वाहयामि यज्ञादिकं करोमीत्याशयः । वह प्रापणे । आचार्य आशिषं ददाति–संवेशपतये संवेशो गृहं गृहस्थाश्रमो वा । तस्य पतये भविष्यते । तव स्वाहा सु आ हा सुखस्य आ समन्तात् हा गतिः प्राप्तिः स्यादिति । सरस्वत्यै तव विद्यायै स्वाहा सु आ हा समन्तात्सुखप्राप्तिः स्यात् । हा गतिः । किंभूतायै सरस्वत्यै ? यशोभगिन्यै यशो भग ऐश्वर्यं च स्तो यस्याः सा तस्यै । सरस्वती हि यशस ऐश्वर्यस्य चावाहिका भवतीतिभावः ॥२०॥

भावार्थ—स्नातक गुरुकुलसे बिदा होता हुआ कहता है—हे ज्ञानप्रकाश-प्रकाशित आचार्य, आपका कोई भी शिष्य अयोग्य नहीं निकला है । अतः हे अपराजित आचार्य दुःख-

से मेरी रक्षा करते रहें। कभी मुझमें दुष्ट इच्छाका उदय न हो। दुष्ट भोजन करनेका प्रसङ्ग भी उपस्थित न हो। मेरा अन्न भोज्य पदार्थ निर्विष रहे। यज्ञादि करता रहूँ। आचार्य आशीर्वाद देता है—तुम गृहस्थाश्रमी बनो। तुमको सब ओरसे सुखप्राप्ति होती रहे। तुम्हारी विद्याकी भी सदा उन्नति होती रहे ॥२०॥

वेदोऽसि येन त्वं देव वेद देवेभ्यो वेदोऽभवस्तेन मह्यं वेदो भूयाः। देवा गातुविदो गातुं वित्त्वा गातुमित। मनसस्पत इमं देव यज्ञꣳ स्वाहा वाते धाः।२१।

ऋषिर्वामदेवः। भुरिग् ब्राह्मी बृहती छन्दः।

शिष्य आचार्यं प्रार्थयते—हे आचार्य येन हेतुना त्वं वेदोसि ज्ञानवानसि। अतो देव दिव्यज्ञानविशिष्ट सुज्ञ त्वं देवेभ्योन्येभ्यो-विद्वद्भ्यः। षष्ठ्यर्थे चतुर्थी। विदुषामिति भावः। वेदो वेदयिता अभवो भूतकाले। वर्तमाने चाप्यसि। तेन मह्यं शिष्याय वेदो वेदयिता सर्वज्ञानानाम्। भूयाः। आशिषि लिङ्। अभ्यर्थनायां वा। आचार्यं सम्प्रार्थ्याचार्यशिष्यान्सतीर्थ्यान् बोधयति—हे देवा विद्वांसः। यूयं गातुविदः स्थ वेदज्ञाः स्थ। गै शब्दे। गीयन्त इति गातवो वेदास्तान्विदन्तीति। गातुं वेदं वित्त्वा विज्ञाय सम्यगधीत्य। गातुं शब्दापयितुमध्यापयितुमन्यानि-त्यर्थः। इतः प्रवृत्ता भवतेत्यर्थः। पुनराचार्यं प्रार्थयते—मनसस्पते ज्ञानरक्षक। मनु ज्ञाने। पा रक्षणे। देव दिव्यगुणविशिष्टगुरो।

इमं पुरस्तादुपस्थितं मामित्यर्थः। यज्ञं वेदविद्यादानपात्रम्। वाते शीघ्रगतौ। वा गतिगन्धनयोः। धा धेहि। शीघ्रगत्याहं सर्ववेदानां वेत्ता यथा स्यां तथा कर्तव्यमित्यर्थना। किं च स्वाहा सुखेना समन्ताज्जिहीते गच्छति प्राप्नोति स्वेष्टं पदार्थमिति तथाभूतः स्यामिति ॥२१॥

भावार्थ–शिष्य आचार्यसे प्रार्थना करता है कि–हे आचार्य आप स्वयं ज्ञानवान् हैं अतः अन्य विद्वानोंको भी आपने भूतकालमें ज्ञानवान् किया है, वर्तमानमें भी कर रहे हैं। अब अपने सतीर्थ्य विद्वानोंसे कहता है वह–हे विद्वानो, आप सब वेदज्ञ हैं, अतः वेदाध्ययनके अनन्तर अब अन्योंको भी वेदविद्यादान करें। पुनः आचार्यसे प्रार्थना करता है हे ज्ञानरक्षक गुरो मुझे शीघ्र विद्वान् बनावें जिससे कि मैं भी अपने ज्ञानप्रचारादि इष्ट कार्योंमें लग सकूं ॥२१॥

सं बर्हिरङ्क्ता॑ᳪ हविषा घृतेन समादित्यैर्वसुभिः सम्मरुद्भिः। समिन्द्रो विश्वदेवेभिरङ्क्तां दिव्यं नभो गच्छतु यत्स्वाहा ॥२२॥

वामदेव ऋषिः। विराट् त्रिष्टुप् छन्दः।

आचार्यः शिष्यायेच्छति–ममायं शिष्यः, हविषा दत्तेन। हु दानादनयोः। घृतेन प्रकाशेन ज्ञानेनेति यावत्। घृ क्षरणदीप्त्योः। सम् अङ्क्तां सम्यक् ख्यातो भवतु। अञ्जू व्यक्ति-म्रक्षण-कान्ति-गतिषु। एवम् आदित्यैर्दीप्तिमद्भिः। आङ्पूर्वादघ्न्यादित्वाद् यत्प्रत्ययः (उ० ४।१०८) आकारेकार-

योरिकारः। दीप्यतेः पकारस्य तकारो निपात्यते। समङ्क्तां गच्छतु व्यक्तिमान्वा भवतु। वसुभिर्वासयितृभिः सर्वेषां रक्षकैः क्षत्रियादिभिः। समङ्क्तां संगच्छताम्। मरुद्भिर्मितममितं वा रोचमानैर्मितममितं वा रोचयद्भिरन्यांल्लोकान्। समङ्क्ताम्। किं चायं शिष्य इन्द्रो ज्ञानरूपैश्वर्ययुक्तः सन्। विश्वदेवेभिर्विश्वस्य विद्वद्भिः समङ्क्तां सर्वैर्विद्वद्भिः सह संगतो भवत्वित्यर्थः। यद्यस्मात्। दिव्यं सुन्दरम्। नभो यशः। नाकं वा। नयतेरसुनि गुणे नयः। बाहुलकाद्यकारस्य भकारः। पृषोदरादित्वादिष्टसिद्धिः। स्वाहा सुखेन। गच्छतु प्राप्नोतु ॥२२॥

भावार्थ–आचार्य इच्छा करता है कि यह मेरा शिष्य मेरे दिये हुए ज्ञानप्रकाशसे प्रसिद्ध बने। प्रकाशित-प्रतिष्ठित विद्वानों के सम्पर्कमें आवे। क्षत्रियादि अथवा अन्य तेजस्वी पुरुषों का संग प्राप्त करे तथा ज्ञानी बनकर विश्वके विद्वानोंसे मिले-जुले। जिससे सुन्दर कीर्ति अथवा सुखको अनायास ही प्राप्त कर सके ॥२२॥

कस्त्वा विमुञ्चति स त्वा विमुञ्चति कस्मै त्वा विमुञ्चति तस्मै त्वा विमुञ्चति। पोषाय रक्षसां भागोऽसि ॥२३॥

वामदेव ऋषिः। निचृद् बृहती छन्दः।

शिष्याचार्ययोः प्रश्नोत्तरावतारमुखेन तत्त्वमुपदिशत्याचार्यः—आचार्यः पृच्छति शिष्यं कस्त्वा विमुञ्चति जगज्जालान्मोचयतीति त्वं जानासि ? नेत्युक्ते शिष्ये मौनमवलम्बिते

वाचार्यः स्वयमुपदिशति–स परमात्मा त्वा विमुञ्चति सर्व-दुःखेभ्यो विमोचयतीति। पुनराचार्यः शिष्यं पृच्छति कस्मै प्रयोजनाय त्वां जगद्दुःखान्मोचयति परमात्मेति त्वं जानासि ? नेत्युक्ते पुनराहाचार्यस्तस्मै परमात्मन एव प्राप्त्यै त्वां विमुञ्चति। पोषाय ज्ञानदानादिना तव रक्षणाय च स त्वां विमुञ्चति। अतः परं त्वं रक्षसां विदुषाम्। रक्षन्तीति रक्षांसि। क्लीबत्वं शब्दस्वाभाव्यात्। भागोसि भक्तव्योसि। भग इति धननाम। भग एव भागः। त्वं विदुषां धनमसि। शिष्या एव विद्वांसः सदाचाराश्च भवन्तो विदुषां धनम्। धनकार्यं शिष्यैरेव सम्पादितं भवतीति ॥२३॥

भावार्थ–आचार्य शिष्यसे पूछता है कि इस जगज्जालसे तुझे कौन छुड़ाता है ? शिष्यके चुप रहने पर आचार्य कहते हैं वह परमात्मा ही दुःख-जालोंसे तुझे छुड़ाता है। पुनः आचार्य-ने कहा परमात्माकी प्राप्तिके लिये ही परमात्मा तुझे दुःखोंसे छुड़ाता है। किंच ज्ञानी बनानेके लिये भी तुझे जगत्के दुःखोंसे छुड़ाता है। अब तू विद्वानोंका धन बना है। शिष्य ही विद्वान् गुरुओंके धन बन जाते हैं। धनकार्य शिष्योंके द्वारा ही सम्पन्न होता रहता है ॥२३॥

सं वर्चसा पयसा सं तनूभिरगन्महि मनसा स॑ शिवेन। त्वष्टा सुदत्रो विदधातु रायोऽनु मार्ष्टु तन्वो यद्विलिष्टम् ॥२४॥

वामदेव ऋषिः। विराट् त्रिष्टुप् छन्दः।

आचार्यः शिष्या अन्येपि प्रार्थयन्ते परमात्मानम्–हे परमेश्वर, वयं सर्वे वर्चसा तेजसा ब्रह्मवर्चसेन वा समगन्महि संगता भवाम। पयसान्नेनोदकेन वा समगन्महि। पय इत्यन्ननाम (निघ० २।७।३)। उदकनामापि (१।१२।८१)। तनूभिः शरीरैः। साकल्येन बहुवचनं निर्वोढव्यम्। शिवेन कल्याणप्रदेन कल्याणकारिणा च मनसा समगन्महि। सुदत्रः शोभनदानदाता। त्वष्टा तूर्णमश्नुवानः सर्वत्र, त्वं परमात्मेति यावत्। रायो धनानि विद्यारूपाण्याचाररूपाणि च। विदधातु ददातु विधेहि देहि वा। तन्वस्तनोर्यद्विलिष्टं विशेषेण न्यूनम्। लिश अल्पीभावे। दैवादिकः। यद्वा गतम्। लिश गतौ। तौदादिको धातुः। तदनुमार्ष्टु शोधयतु शोधय। सर्वथा कुशलिनः स्यामेत्यभ्यर्थना ॥२४॥

भावार्थ–अचार्य, शिष्य तथा अन्य जन भी प्रार्थना करते है कि हे परमेश्वर हम सब ब्रह्मवर्चस्वसे सम्पन्न बनें। अन्न-जल भी हमें सदा प्राप्त होते रहें। नीरोग शरीर और नीरोग मनसे युक्त रहें। सर्वव्यापक परमात्मा तू हम सबको विद्या और आचार रूप धन दे। हमारे शरीरमें जो कुछ न्यून हुआ हो उसे पूर्ण कर ॥२४॥

दिवि विष्णुर्व्यक्रꣳस्त जागतेन च्छन्दसा ततो निर्भक्तो योऽस्मान्द्वेष्टि यं च वयं द्विष्मोऽन्तरिक्षे विष्णुर्व्यक्रꣳस्त त्रैष्टुभेन च्छन्दसा ततो निर्भक्तो

योऽस्मान्द्वेष्टि यं च वयं द्विष्मः पृथिव्यां विष्णुर्व्यक्रꣳस्त गायत्रेण च्छन्दसा ततो निर्भक्तो योऽस्मान्द्वेष्टि यं च वयं द्विष्मोऽस्मादन्नादस्यै प्रतिष्ठाया अगन्म स्वः सं ज्योतिषाभूम ॥२५॥

वामदेव ऋषिः। दिवीत्यारभ्य द्विष्म इत्यन्तस्य निचृदार्ची छन्दः। अन्तरिक्ष इत्यारभ्य द्विष्मः पर्यन्तस्य पङ्क्तिश्छन्दः। पृथिव्यामित्यारभ्यान्तपर्यन्तस्य (भुरिग्) जगती छन्दः।

जागतेन जगद्धितैषिणा छन्दसा स्वाभिप्रायेण स्वेच्छयेत्यर्थः। विष्णुः सर्वव्यापकः परमेश्वरः दिवि द्युलोक उपरिलोके व्यक्रंस्त विक्रमते। ततो विक्रमणेन। यो मूढः। अस्मानीश्वरभक्तान् सज्जनान्वा। द्वेष्टि यं च दुर्जनं वयं द्विष्मः सः। द्युलोकात्। निर्भक्तो निस्सारितः। एवं विष्णुस्त्रैष्टुभेन त्रिलोकस्तम्भकेन छन्दसाभिप्रायेण। त्रींल्लोकान् स्तोभते प्रतिबध्नाति पतनान्निवारयतीति त्रिष्टुप्। तस्येदं त्रैष्टुभम्। तेन। छन्दसाभिलाषेण। अन्तरिक्षे विष्णुर्व्यक्रंस्तेत्यादि पूर्ववद् व्याख्येयम्। एवं गायत्रेण छन्दसा शब्दद्वारा वेदद्वारोपदेशेच्छयेत्यादि व्याख्येयम्। अस्मादन्नादिति। अस्मादुपदिष्टात्। अन्नात्प्राणनहेतोः परमात्मनः। अन प्राणने। "कृवृजृ०" (उ० ३।६) इति न प्रत्ययः। अन्यते प्राण्यते यत्कृपातो व्यवस्थातो वा सोन्नः परमात्मा। हेतौ पञ्चमी। अस्यै प्रतिष्ठायै इमां प्रतिष्ठाम्। द्वितीयार्थे पञ्चमी। अगन्म प्राप्तवन्तः। ज्योतिषा प्रकाशेन विद्याप्रभावेण च समभूम संगता अभूमेति ॥२५॥

भावार्थ—सर्वव्यापक परमेश्वर अपनी जगद्धितैषिणी इच्छासे द्युलोकमें अर्थात् उपरिलोकोंमें व्याप्त होकर रह रहा है। उसके पराक्रमसे सज्जनोंसे द्वेष करनेवाले नरपशुओंको वहांसे निकाला गया है। त्रिलोकीके धारण करनेवाले उस ईश्वरकी इच्छासे अन्तरिक्ष लोकसे उन दुष्टोंको निकाला गया है। इस पृथिवीपर भी उसी परमात्माका राज्य है और अतः यहांसे भी वे खल लोग निकाले गये हैं। इस परमेश्वर से ही हम प्रतिष्ठा-स्थितिको प्राप्त हुए हैं और निर्विघ्न होकर विद्याके प्रभावसे संगत हुए हैं ॥२५॥

स्वयंभूरसि श्रेष्ठो रश्मिर्वर्चोदा असि वर्चो मे देहि। सूर्यस्यावृतमन्वावर्ते ॥२६॥

वामदेव ऋषिः। उष्णिक् छन्दः।

ईश्वरं गुरुं वा कश्चित्प्रार्थयते—स्वयम्भूः स्वयमेव नान्यस्य प्रेरणया भावयति शिष्यान् विदुष इति स्वयम्भूस्तथाभूतोसि। अतएव श्रेष्ठोसि सर्वोत्तमोसि। रश्मिरसि सर्वेषां प्राणिनां शिष्याणां वा नियामकोसि। रशिर्यमनार्थः। अथवाश्नुते व्याप्नोति सर्वं जगत्सर्वं शास्त्रं च स रश्मिः। "अश्नोतेरसच्" (उ० ४।४६)। किं च वर्चोदा असि वर्चसस्तेजसो ब्रह्म-वर्चसस्य वा दातासि। अतो वर्चो मे मह्यं देहि वितर। सूर्यस्य ज्ञानप्रेरकस्य तव। क्यपि सुवते रुडागमः (पा. ३।१। ११४)। आवृतमावर्तनं पन्थानम्। अनु अनुलक्ष्य। आवर्तेहं

समन्ताद्वर्ते । ईश्वराज्ञां गुर्वाज्ञां च तिरस्कृत्य माहं वर्तिष्यीति-भावः ॥२६॥

भावार्थ—भक्त या शिष्य गुरुसे प्रार्थना करता है—भगवन् ! आप स्वयम्भू हैं ; स्वेच्छासे विद्वानों अथवा शिष्योंका उपकार करते हैं ; सर्वोत्तम हैं ; प्राणियों अथवा शिष्योंके नियामक हैं ; ब्राह्मतेजके प्रदाता हैं—वह मुझे भी दीजिए ; ज्ञानप्रेरक आपके मार्ग-अनुशासनसे बाहर कभी न जाऊं ॥२६॥

अग्ने गृहपते सुगृहपतिस्त्वयाऽग्नेऽहं गृहपतिना भूयासꣳसुगृहपतिस्त्वं मयाऽग्ने गृहपतिना भूयाः । अस्थूरिणौ गार्हपत्यानि सन्तु शतꣳहिमाः सूर्यस्या-वृतमन्वावर्ते ॥२७॥

वामदेव ऋषिः । पूर्वार्धे निचृत् पङ्क्तिश्छन्दः । उत्तरार्धे गायत्री छन्दः ।

हे अग्नेऽग्रणीः । अग्रे नयतीत्यग्निः । पृषोदरादिः । आचार्यं कंचिदन्यं वा विद्वांसमुद्दिश्य शिष्यप्रार्थना । हे गृहपते आश्रयदातृप्रवर । गृह्णाति निराश्रितान् भक्तान्वेति गृहो गृहं वा । तं तद्वा पातीति गृहपतिः । गृहश्चासौ पतिश्चेति गृहपतिः । तत्सम्बद्धौ । त्वया गृहपतिना भक्तानुग्रहकारिणा भक्तरक्षकेण वा । अहं सुगृहपतिर्भूयासम् । यथा त्वं निराश्रितान् गृह्णा-स्याश्रयदानेन रक्षसि चापेक्षितसम्पादनेन तथैवाहमपि शोभनो गृहपतिर्भूयासमिति भावः । त्वया गृहपतिनेत्यादौ करणे तृतीया । सहार्थे वा तृतीया । त्वया सहाहमपि त्वत्सदृशो भूयासमित्य-

लनकर्मणि । अशकमहं शक्तिमानभवम् । तत्कर्म मे मम । अराधीत् सिद्धमभवत् । राध संसिद्धौ । इदं सर्वं भवदनुकम्पाया एव फलम् । न तत्र किञ्चिन्मे वैशिष्ट्यम् । अयमहं तु य एवास्मि य एवासं कर्मारम्भात्प्राक् स एवास्मि कर्मसमाप्त्यनन्तरमपि । गुरुचरणानुकम्पयैव शिष्याः साफल्यं व्रजन्ति न चाभिमानिनो भवन्तीतिहार्दम् ॥२८॥

भावार्थ–हे मेरे व्रतोंके रक्षक आचार्य मैंने व्रतका आचरण किया है । मेरा वह व्रत सफल भी हुआ है । यह सब आपकी कृपाका ही फल है । मैं तो जैसा पूर्वमें था वैसा ही आज भी हूँ । गुरु माहात्म्य-द्योतनके लिये शिष्य नम्रता प्रदर्शन करता है ॥२८॥

अग्नये कव्यवाहनाय स्वाहा सोमाय पितृमते स्वाहा । अपहता असुरा रक्षाᳬसि वेदिषदः ॥२९॥

वामदेव ऋषिः । स्वराड् आर्षी अनुष्टुप् छन्दः ।

कव्यते शब्द्यते पठ्यत इति कव्यो वेदः । तस्य वाहनाय प्रापकाय । अग्नये महाप्रकाशशीलगुरवे । स्वाहा स्वमात्मानमा हा समन्तात्समर्पयामि । पितृमते पिता रक्षकः परमेश्वरस्तद्वान् तन्निष्ठ इति यावत् । तस्मै सोमाय शान्ताय । स्वाहा । निर्दिष्टोर्थः । अपहता विनष्टा असुरा दुष्टा अविद्याः । वेदिषदो वेदविदुषां हृदये सीदन्तीति वेदिषदः । वेदोऽस्यास्तीति वेदी । वेदविद्वान् । वेदज्ञानां हृदये वर्तमानानि रक्षांसि रक्षोपायभूतानि सर्वाण्येव वस्तूनि वर्तन्त इति भावः ॥२९॥

भावार्थ–हे वेदविद्याधारक आचार्य आपको मैं अपने आपको समर्पित करता हूँ। ईश्वरनिष्ठ, शान्तस्वरूप आपको में अपनेको समर्पित करता हूँ। दुष्ट असुर अविद्यादि नष्ट हो गये। विद्वन्निष्ठ अर्थात्-विद्वानोंसे उपदिष्ट सभी मार्ग मेरे लिये उपस्थित हैं ॥२९॥

ये रूपाणि प्रतिमुञ्चमाना असुराः सन्तः स्वधया चरन्ति। परापुरो निपुरो ये भरन्त्यग्निष्टांल्लोकात्प्रणुदात्यस्मात् ॥३०॥

ऋषिः प्रजापतिः। भुरिक् पङ्क्तिश्छन्दः।

हे परमेश्वर येसुराः प्राणापहारकाः। असु क्षेपणे। अथवा ऐश्वर्यहीना दुर्भाग्यलालिता इत्यर्थः। अथवा सुपूर्वकाद् रि हिंसायामित्यस्मात्सौवादिकाद्धातो रूपम्। असून् प्राणान् रिण्वन्ति हिंसन्तीत्यसुराः। अथवा अस्यन्ति प्रक्षिपन्ति धर्मानुत्तमगुणांश्चेत्यसुराः। "असेरुरन्" (उ० १।४२)। सन्तो भवन्तः। रूपाणि दुष्टशब्दान् प्रतिमुञ्चमानाः। रु शब्दे। "खष्पशिल्पशष्पवाष्परूप०" (उ० ३।२८) इति रूपशब्दो निपातितः। अथवा रोपयति विमोहयतीति रूपम्। रुपु विमोहने। अच्। दीर्घः। विमोहनकलां बध्नन्तः स्वीकुर्वन्तः। स्वधया सुतरामधया पोषणकर्मणा विनाशकर्मणेति यावत्। चरन्तीतस्ततो विचरन्ति। एतदेव शब्दान्तरेण पुनराह—ये च परापुरः परेषामपुरोरक्षितारो निहन्तार इति तात्पर्यम्। ये च निपुरो नितरांस्वार्थपूरकाः। ये च भरन्ति हरन्ति लोक-

कल्याणं लोकशान्ति वा । हरतेर्भश्छन्दसि । अग्निः सर्वव्यापकः प्रकाशस्वरूपः परमात्मा । तानस्माल्लोकात्प्रणुदात् प्रणुदत्वित्यर्थः ॥३०॥

भावार्थ–लोगोंको फंसानेवाले दुःख देनेवाले जो दुष्ट इधर उधर फिरते रहते हैं, जो अन्योंका नाश करते हैं, जो परमस्वार्थी हैं और जो लोकशान्तिको नष्ट करनेवाले हैं परमात्मा उन सब को यहांसे दूर करे ॥३०॥

अत्र पितरो मादयध्वं यथाभागमावृषायध्वम् । अमीमदन्त पितरो यथाभागमावृषायिषत ॥३१॥

ऋषिः प्रजापतिः । बृहती छन्दः ।

आचार्य आह–अत्रास्मिल्लोके पितरः पूर्वजा रक्षका वा । मादयध्वं तर्पयन्तु युष्मानिति शेषः । यथाभागं युष्माभिर्यथा तेषां सेवा कृता तदनुलक्ष्यावृषायध्वं युष्माकं तृप्तिकर्म आचरन्तु । युष्मांस्तर्पयन्त्विवतिभावः । पुरुषव्यत्ययः । अथवा पितर इति सम्बोधनम् । एवं च न पुरुषव्यत्ययः । प्रार्थयिता च स्नातकः । आचार्यः शिष्यं गुरुकुलात्प्रतिगमनकाले शिक्षयति पुनः शब्दान्तरेण—हे शिष्या यूयं पश्यत पितरो यथाभागं योग्यतानुकूलममीमदन्त तर्पिता अभवन्नवेति । एवम् आवृषायिषत नवेति ॥३१॥

भावार्थ–आचार्य अपने शिष्योंको आशीर्वाद देता है कि संसारमें जबतक तुम रहो, तुम्हारे पूर्वज पिता, पितामहादि- तुम को तृप्त करते रहें । तथा हे शिष्यो तुम भी सदा देखते

रहो कि तुमारे पिताहादि योग्यरीतिसे तृप्त कराये गये हैं या नहीं—किये गये हैं या नहीं ॥३१॥

नमो वः पितरो रसाय नमो वः पितरः शोषाय नमो वः पितरो जीवाय नमो वः पितरः स्वधायै नमो वः पितरो घोराय नमो वः पितरो मन्यवे नमो वः पितरः पितरो नमो वो गृहान्नः पितरो दत्त सतो वः पितरो देष्मैतद्वः पितरो वासः आधत्त ॥३२॥

नमो व इति । ऋषिरुक्तः । मन्यवे पर्यन्तं ब्राह्मी बृहती छन्दः अग्रेचामन्त्रसमाप्ति स्वराड् बृहती छन्दः ।

उवट-महीधरकृतभाष्ययोः सारांशोस्यमन्त्रस्योद्ध्रियते—

"षड्वा ऋतवः पितरः" इति श्रुत्या षड् ऋतव एवात्र पितरः । तथा च— रसाय रसभूताय वसन्ताय, शोषाय शुष्यन्त्योषधयो यत्रेति शोषो ग्रीष्मः जीवाय जीवनहेतुभूताय जलाय वर्षर्तवे । स्वधायै शरदे । 'स्वधा वै शरत् स्वधा वै पितॄणामन्नम्' इति श्रुतिः । शरदि हि प्रायशोऽन्नानि भवन्ति । घोराय विषमाय हेमन्ताय । हेमन्तः शीतप्रचुरत्वेन दुःखदत्वात् घोरः । मन्यवे मन्युः क्रोधस्तद्रूपाय शिशिराय । शिशिरस्तु सर्वौषधीर्दहति । हे पितर एवंविधर्तुरूपेभ्यो वो नमः । हे पितरः, वो नम इत्यभ्यासं आदरातिशयार्थः । हे पितरः, नोऽस्मभ्यं गृहान् दत्त । भार्यापुत्रपौत्रादयो गृहाः । हे पितरः, वो युष्मभ्यं सतः विद्यमानान् द्रव्यान् देष्म ददाम । अथवा विद्यमानात् धनाद्युष्मभ्यमस्माभिर्दातव्यम् । ददतामस्माकं

कदाचिद् द्रव्यक्षयो मास्त्वित्यर्थः । हे पितरः वो युष्माकमे-तद्वासः परिधानम् ।।३२।।

भावार्थ–[इस मन्त्रका भाष्य उवट और महीधरने प्राय. अच्छा ही किया है अतः मैं कुछ नवीन न लिखकर उन्हींके भाष्योंका सार यहां लिख देता हूं।] इस मन्त्रमें ६ वाक्य खण्ड हैं। उपर्युक्त दोनों भाष्यकारोंने **'षड्वा ऋतवः पितरः'** इस श्रुतिके अनुसार छह ऋतुओंका यहां पर स्मरण किया है। उन्होंने जिन शब्दोंसे जिस ऋतुका वर्णन किया है उनका निर्देश निम्नलिखित है। रस=वसन्त। शोष=ग्रीष्म। जीव=वर्षा। स्वधा=शरद्। **'स्वधा वै शरत्'**। घोर=हेमन्त। मन्यु=शिशिर। ब्रह्मचारी समावर्तनके पश्चात् अपने पूर्वजों की सेवा करता हुआ भावना यह करे कि हे पितर, आप आनन्ददाता हैं अतः आप वसन्तरूप हैं। आप हमारे दुःखोंको और भूलोंको सुखा देते हैं अतः आप ग्रीष्मरूप हैं। आप हमें अपनी सम्पादित सम्पत्तिसे जिलाते हैं अतः आप वर्षारूप हैं। आप हमारी सर्वथा रक्षा करते हैं अतः आप शरद्रूप हैं। आप कभी कभी हमारे लिए विषम बनते हैं अतः आप हेमन्तऋतु हैं। हेमन्तमें अत्यधिक ठंड पड़ती है और मनुष्य अधिक दुःख पाते हैं। आप शिशिररूप होते हैं जब मुझ पर क्रोध करते हैं। शिशिर ऋतुमें सब ओषधियां जल जाती हैं। इस प्रकार से पितरोंको ऋतुरूपसे वर्णन करके सबको प्रणाम करनेका आदेश इस मन्त्रमें किया गया है। गुरुकुलसे लौटा हुआ ब्रह्मचारी पितरोंसे ही गृह-निवासस्थान मांगता है। वह यह

भी कहता है कि हे पितर, मैं भी अपने कर्तव्यका पालन करता हुआ आपके सुखकी सामग्री आपको दूंगा। आपके लिए योग्य समयमें योग्य निवासादि भी देता रहूंगा ॥३२॥

आधत्त पितरो गर्भं कुमारं पुष्करस्रजम्। यथेह पुरुषोऽसत् ॥३३॥

ऋषिः प्रजापतिः। निचृद् गायत्री छन्दः।

ऋषय उपदिशन्ति स्वकीयाञ्छिष्यान् व्रतं समाप्य गृहं गन्तुकामान्—हे शिष्या यूयं पितरो भविष्यन्तः। बहुवचनं सर्वोद्देश्येन। गर्भं स्तुत्यम्। "गर्भो गृभेर्गृणात्यर्थे गिरत्यर्थानिति वेति" (निरु० १०।२३)। पुष्करस्रजं शरीरशोभायै कमलमाल्यवन्तम्। अथवा पुष्करं वपुष्करम्। वपुः सुन्दरं कर्तुं शीलमस्येति वपुष्करं सद् वकारलोपेन पुष्करम्। पृषोदरादित्वात्साधुत्वम्। वपुःसौन्दर्यसाधनभूतं स्रङ्माल्यं यस्य तम्। कुमारं कौ पृथिव्यां मारमिव काममिव सुन्दरम्। कौ पृथिव्यां मारयति दुष्टांस्तथाभूतमिति वा। सर्वेषामानन्दप्रदं वा। कुमार क्रीडायाम्। पुत्रमित्यध्याहार्यम्। आधत्तोत्पादयत। यथा येन प्रकारेण। यतो वा। स इह। पुरुषः पुरूणि सिनाति बध्नाति दुर्जनमण्डलानि दुराचारस्वेच्छाचारादिदुर्गुणजातानि वा तथाभूतः। अथवा पुरिशयः परमात्मलीनः। अथवा पुरिषादं परमात्मनि निरतम्। "पुरुषः पुरिषादः पुरिशयः पूरयतेर्वा पूरयत्यन्तरित्यन्तरपुरुषमभिप्रेत्य" (निरु. २।२)। असद् भवेत् ॥३३॥

भावार्थ–जब शिष्य व्रतको समाप्त करके गुरुकुलसे पितृ-कुलको जाने लगता है तब आचार्य अपने शिष्योंको उपदेश करता है कि हे शिष्यो तुम अब घर जाकर पिता बनोगे। अतः स्तुतियोग्य, सुन्दर अथवा पृथिवीके दुष्टोंको सज्जन बनाने वाले, सबको आनन्द देने वाले पुत्रको उत्पन्न करो। जिससे कि वह पुत्र दुराचार, स्वेच्छाचार आदि दुर्गुणोंसे दूर रहकर अथवा परमात्माकी भक्तिमें लीन रहकर जीवन-यापन करे ॥३३॥

ऊर्जं वहन्तीरमृतं घृतं पयः कीलालं परिस्रुतम्।
स्वधा स्थ तर्पयत मे पितॄन् ॥३४॥

इति (शुक्ल) यजुर्वेदे (माध्यन्दिनसंहितायाम्)
द्वितीयोध्यायः ॥२॥

ऋषिः प्रजापतिः। भुरिगुष्णिक् छन्दः।

बह्वीः सन्ततीरुपलक्ष्य ब्रवीत्याचार्यः–हे शिष्या ऊर्जं बलमात्मिकं शारीरिकं च। वहन्तीर्धारयन्तीः। अमृतं हिरण्यं धनादिकं च। अमृतमिति हिरण्यनाम (निघ. १।२।१२)। घृतं नवनीतजम्। पयो दुग्धम्। कीलालं सर्वविधबन्धननिवारयितृ बलम्। कीलो बन्धः। कील बन्धने। तमलति वारयति तथा-भूतम्। अल वारणपर्याप्त्योः। भूषणपर्याप्तिवारणेष्विति केचित्। परिस्रुतं परितो गतिमच्चोर्जं बलं बहन्तीः सन्ततीः। स्वधाः सुखेन शोभनतया वा धा धारयतेत्यर्थः। एवं कुर्वन्त एव स्थ स्त जीवनं धारयतेत्यर्थः। किं च मे मां गुरुमाचार्यम्।

पितॄन् पातॄन् मातापित्रादींश्च तर्पयत सेवया सुखप्रदानेन च ॥३४॥

इतिसर्वतन्त्र-स्वतन्त्र-कवितार्किक-परमहंस-परिव्राजकाचार्य-
पण्डितराज-स्वामि-श्रीभगवदाचार्येण प्रणीतं
(शुक्ल) यजुर्वेदे (माध्यन्दिन-संहितायाम्)
द्वितीयाध्याये
यजुः-संस्कारभाष्यम्

भावार्थ–गुरुकुलसे बिदा होते हुए ब्रह्मचारीको आचार्य शिक्षा देता है कि शारीरिक और आत्मिक बलको धारण करनेवाली तथा हिरण्यादि धन, घृत, दुग्ध तथा सर्वप्रकारके बन्धनोंको तोड़नेवाले बलको धारण करनेवाली सन्ततिको सुख-पूर्वक धारण करो और गुरु-माता-पिता आदिको सेवासे तथा सुखप्रदानसे तृप्त करते रहो ॥३४॥

इति सर्वतन्त्र-स्वतन्त्र-कवितार्किक-परमहंस-परिव्राजकाचार्य-
"पण्डितराज" स्वामिश्रीभगवदाचार्येण प्रणीतं
(शुक्ल) यजुर्वेदे (माध्यन्दिनसंहितायाम्)
द्वितीयाध्याये यजुः-संस्कारभाष्यस्य
हिन्दीभाषया निबद्धं संक्षिप्तं रहस्यम्

—०—

अथ शुक्लयजुर्वेदे तृतीयोऽध्यायः

समिधाग्निं दुवस्यत घृतैर्बोधयतातिथिम् ।
आस्मिन् हव्या जुहोतन ॥१॥

विरूप आङ्गिरस ऋषिः । गायत्री छन्दः ।

हे शिष्याः समिधा सम्यगिन्धयति दीपयति तत्त्वं प्रकाशयतीति समिद्विद्या । तयाग्निमग्रण्यमग्रेनेतारमाचार्यम् । "अग्निः कस्मात् ? अग्रणीर्भवति" (निरु० ७।१४) । दुवस्यत परिचरत । दुवस्यतीति परिचरणकर्मा (निघ. ३।५।५) । हेत्वर्थे तृतीया । विद्यया हेतुनाचार्यं परिचरतेति । किं चातिथिमात्मानम् । अतति निरन्तरं देहाद्देहान्तरं गच्छतीत्यतिथिर्जीवः ! अत सातत्यगमने । "अततेरिथिन्" (उ. ४।२) । घृतैर्ज्ञानैः । घृ क्षरणदीप्त्योः । दीप्तिरिह ज्ञानात्मिका । बोधयत बोधयुक्तं कुरुत । किं चास्मिन्नतिथौ ज्ञानसम्पन्ने जीवे । हव्या हव्यानि दातव्यानि सदाचारादीनि जुहोतन जुहुत दत्त । हु दानादनयोः ।।१।।

भावार्थ–आचार्य शिष्योंसे कहते हैं कि तुम लोग विद्याके लिये आचार्यकी परिचर्या करो तथा जीव–आत्माको ज्ञान सम्पन्न बनावो । और इस ज्ञान– सम्पन्न जीवमें सदाचारादिकी स्थापना करो ।।१।।

सुसमिद्धाय शोचिषे घृतं तीव्रं जुहोतन। अग्नये जातवेदसे ॥२॥

सुश्रुत ऋषिः। गायत्री छन्दः।

सुसमिद्धाय सम्यक्प्रदीप्ताय ज्ञानेनाचारेण च। शोचिषे प्रकाशमानाय। 'शोचतेर्ज्वलतिकर्मण इसिः (उ. २।१०१)। जातवेदसे जातं जातं प्रतिपदार्थं विदुषे। अग्नयेऽग्रण्ये। अग्निः कस्मात्? अग्रणीर्भवति (नि. ७।१४)। तीव्रमतिशयितम्। घृतं क्षरणं दोषं त्रुटिं वा। जुहोतन दत्त समर्पयत। उपदिष्टो विद्वान् युष्माकं दोषं त्रुटिं वा दूरीकरिष्यतीति ॥२॥

भावार्थ—ज्ञान और सदाचारसे प्रकाशित और प्रत्येक तत्वके ज्ञाता, सबके अग्रणी विद्वान्को तुम लोग अपने दोष और त्रुटियोंको बताओ। उपर्युक्त (उपदिष्ट) विद्वान् तुम्हारे दोषों और तुम्हारी त्रुटियोंको दूर करेगा ॥२॥

तं त्वा समिद्भिरङ्गिरो घृतेन वर्धयामसि। बृहच्छोचा यविष्ठ्य ॥३॥

भरद्वाज ऋषिः। निचृद् गायत्री छन्दः।

हे अङ्गिरो गतिशील। अङ्गतिर्गत्यर्थः। मत्वर्थीयो रस् प्रत्ययः। शिष्य। तमागमनेन स्वाकाङ्क्षानिवेदनेन च प्रसिद्धम्। त्वा त्वाम्। समिद्भिः समीचीनाभिर्विद्याभिः। घृतेन दीप्त्या प्रकाशेन तेजसेत्यर्थः। वर्धयामसि वर्धयामो वृद्धिं नयामः। हे यविष्ठ्य यविष्ठ। स्वार्थे तद्धितयकारः। बृहन्म-

हान्तमत्यन्तम् । शोच दीप्यस्व । शुच दीप्तौ । अतिशयेन युवानमाश्रमस्थं ब्रह्मचारिणमाचार्य आशीर्वचनेन समेधयति ।३।

भावार्थ—अतियुवा आश्रमवासी ब्रह्मचारीको आचार्य आशीर्वाद देते हैं—हे गतिशील शिष्य तुम्हारी आकाङ्क्षाका हमें ज्ञान होगया है । हम विद्या और तेजसे तुम्हारी अभिवृद्धि करेंगे । हे युवक तुम भलीभांति प्रकाशम न बनो अर्थात् तुम्हारा यश चहुँ ओर विस्तृत हो॥३॥

उप त्वाग्ने हविष्मतीर्घृताचीर्यन्तु हर्यत । जुषस्व समिधो मम ॥४॥

प्रजापति ऋषिः गायत्री छन्दः ।

हे अग्ने गतिशील शिष्य । त्वा त्वाम् । हविष्मतीर्हविष्मत्यो ज्ञानदानवत्यः । यासु रात्रिषु ज्ञानं दीयते ता हविष्मत्य उच्यन्ते । घृताचीर्घृताच्यो रात्रयः । घृ क्षरणदीप्त्योः । घृतेन प्रकाशेनाञ्चिताः पूजिता भवन्ति रात्रयः । अञ्चतेः क्विन् । "अनिदिताम्" (पा. ६।४।२४) इति नलोपः । 'अचः" (पा. ६।४।१३८) इत्यकारलोपः । "चौ" (पा. ६।३।१३८) इति दीर्घे च कृते "अञ्चतेश्चोपसंख्यानम् (पा. ४।१।६) इति वार्तिकेन ङीप् । उपयन्तूपगच्छन्तु । प्रत्यहं प्रतिरात्रि च त्वमध्ययनशीलो भवेत्याचार्योक्तिः । हे हर्यत गतिशील प्रगतिशील । हर्य गतिकान्त्योः । मम समिधस्तेजांसि । जुषस्व सेवस्व । अहं गुरुरस्मि त्वं च मम शिष्यः । मदीयं तेजस्त्वयि संक्रान्तं स्यादिति समीहा ॥४॥

भावार्थ–हे शिष्य, ज्ञानदान देनेवाली ये सुन्दर रात्रियां तुमको प्राप्त होवें। उनमें तुम ज्ञानसम्पन्न बनो और मेरा तेज तुममें संक्रान्त हो। यह आचार्यकी शिष्यके प्रति इच्छा है। ॥४॥

भूर्भुवःस्वर्द्यौरिव भूम्ना पृथिवीव वरिम्णा। तस्यास्ते पृथिवि देवयजनि पृष्ठेऽग्निमन्नादमन्ना-द्यायादधे ॥५॥

प्रजापतिर्ऋषिः। दैवी बृहती छन्दः।

हे देवयजनि देवैर्विद्वद्भिरिज्यते पूज्यत इति देवयजनी। तत्सम्बद्धौ देवयजनि। हे पृथिवि प्रथते विस्तारयति जगदथवा प्रथते जगद्रूपेण विस्तृता भवतीति पृथिवी। तत्सम्बुद्धौ। पृथिवीति देवयजनीति द्वे एव पदे स्त्रीलिङ्गे परमात्मबोधके। न हि परमात्मा पुमान् वा स्त्री वा क्लीबो वा। लिङ्गातीतो हि सः। अतः कदाचित्स पुंवाचकशब्देन कदाचित्स्त्रीवाचक-शब्देन कदाचिच्च नपुंसकलिङ्गेन व्यवह्रियते। अलिङ्गं केनापि लिङ्गेन व्यवहरन्ती श्रुतिर्भगवती न भवति प्रायश्चित्तीया। हे परमेश्वरे, त्वं भूरिव भुवरिव स्वरिव द्यौरिव भूम्ना महत्त्वेना-सि। वरिम्णा चोरुत्वेन पृथिवीव। यथोरुत्वेन पृथिवी सर्वा-श्रयभूता तथा त्वमपीति। उपमानोपमेययोर्विपर्ययो बालबुद्धि-बोधाय। सिद्धं वस्तूपमानं भवति। साध्यं ह्युपमेयं भवति। यथा मुखं चन्द्र इव। चन्द्र उपमानम्। मुखमुपमेयम्। प्रकृते विपर्ययः ख्यातः। सिद्धो हि परमेश्वरः। स चोपमेयतां गतः। पृथिव्युपमानतां गता सा चासिद्धा। अस्तु। सिद्धत्वासिद्ध-

त्वयोर्बुद्धिविषयत्वं स्वीकृत्य सर्वं समञ्जसम्भवति। तस्यास्ते तव पृष्ठे। परमात्मनः सर्वव्यापकत्वाद्यद्यद्भवति यद्यद्वा क्रियते तत्सर्वं परमात्मनः पृष्ठ एव। पृष्ठं त्वारोपितम्। न हि परमेश्वरस्य पृष्ठं भवत्युदरं वा। सर्वं हि आलङ्कारिकम्। परमेश्वराश्रय इत्युक्तं भवति। अन्नादम् परमेश्वरोपासकम्। आनयति प्राणयति जीवयति सर्वानिति परमेश्वरोऽन्नशब्दवाच्यः। तमत्तीत्यन्नादः। अदनं च न हि भक्षणम्, आस्वादनमात्रम्। उपासको जीव उपास्यस्य परमेश्वरस्यास्वादं गृह्णाति न तु भक्षयति परमेश्वरम्। एवं चान्नादो जीव उपासकः। तमन्नादं जीवम्। अन्नाद्याय त्वदास्वादनाय। आदधे स्थापयामि नियोजयामीति वा। भूर्भुवःस्वःशब्दैस्तदानीं लोकप्रसिद्धा लोका आसन्॥५॥

भावार्थ–भूः, भुवः, स्वः, दिव्, इत्यादि नामवाले कोई लोक उस समय प्रख्यात थे। अतः इन चारोंकी उपमा देकर ऋषि कहते हैं कि महत्वमें इन चारों लोकोंके समान तथा, विशालतामें पृथिवीके समान हे परमेश्वर तुम हो। ऐसे विशाल महान्, व्यापक तुम्हारे आश्रयमें इस आपके उपासक जीवको आपको उपासनाका आस्वाद लेनेके लिये समर्पित करता हूं। इस मन्त्रमें **पृथिवि** और **देवयजनि** ये दो शब्द स्त्रीलिङ्गके हैं परन्तु वे दोनों ही परमेश्वरके बोधक हैं। परमेश्वर न तो पुरुष है, न स्त्री है और न नपुंसक है। वह केवल परमेश्वर है। लिङ्ग शब्दगत होते हैं वस्तुगत नहीं। इसीलिये ब्रह्मन् शब्द नपुंसक है, अप्शब्द स्त्रीलिङ्ग है और दारशब्द पुंलिङ्ग है। इस मन्त्रमें

परमेश्वरको स्त्रीलिङ्गसे सम्बोधन किया है अथवा परमेश्वराको ही सम्बोधन किया है। परमेश्वरा तो स्त्रीलिङ्ग है ही ॥५॥

आयं गौः पृश्निरक्रमीदसदन्मातरं पुरः। पितरं च प्रयन्त्स्वः ॥६॥

सर्पराज्ञी कद्रूर्ऋषिः। निचृद् गायत्री छन्दः।

अयं गौः सर्वगन्ता सर्वव्यापकः। पृश्निस्तेजःस्वरूपः। "संस्पृष्टो भासे" तिनिरुक्तम् (२।१४)। पुरस्तिस्त्रस्त्रींल्लोकानिति यावत्। आ अक्रमीत् समन्तात्सर्वत्र क्रान्त्वा स्थितः। तदेव स्पष्टयत्याचार्यः। स्वरादित्यलोकम्। स्वरादित्यो भवतीति निरुक्तम् (२।१४)। प्रयन् गच्छन्। मातरमन्तरिक्षम्। असददगच्छत्। षद्लृ विशरणगत्यवसादनेषु। अन्तरिक्षशब्देनोर्ध्वलोका गृह्यन्ते। पितरं भूलोकमसदत्। पिता पाता वा पालयिता वा जनयिता वेति निरुक्तम् (४।२१)। चकारादधोलोको गृह्यते। अनेन गवार्थः प्रतिपादितः। गौः सर्वव्यापकः। सर्वेषु लोकेषु गमनात्सर्वव्यापकत्वं परमात्मनः साधितं भवति। स्वतः-सिद्धं व्यापकत्वं गत्या प्रत्याय्यते ॥६॥

भावार्थ—सर्वव्यापक, तेजःस्वरूप परमेश्वरने तीनों लोकोंको अपने पैरके नीचे दबा रखा है। आदित्यलोकको जाता हुआ, अन्तरिक्षलोकमें पहुंचा अर्थात् उपरिलोकमें वह व्याप्त है। भूलोकमें भी व्याप्त है। अधोलोकमें भी व्याप्त है। अर्थात् ईश्वर सर्वव्यापक है, यह इस मन्त्रसे कहा गया ॥६॥

अन्तश्चरति रोचनास्य प्राणादपानती व्यख्यन्महिषो दिवम् ॥७॥

सर्पराज्ञी कद्रूर्ऋषिः। विराड् गायत्री छन्दः।

अस्य सर्वव्यापकस्य परमात्मनः। रोचना दीप्तिः प्रकाशः। अन्तः सर्वेषामन्तश्चरति। प्राणात् प्राणनव्यापारसम्पादनानन्तरम्। अपानती-अपानव्यापारं कुर्वती कारयन्ती। प्राणादीनां व्यापारो परमात्मरोचनाधीन इत्युच्यते। महिषः स एव महान् परमात्मा। महिष इति महन्नाम (निघ० ३।३।८)। दिवं मोदं सर्वत्र। दिवु क्रीडाविजिगीषाव्यवहारद्युतिस्तुतिमोदमदस्वप्नकान्तिगतिषु। व्यख्यत्प्रकाशयति। विपूर्वकः ख्याधातुः प्रकथनार्थको विख्यातार्थको वा। इह प्रकाशनार्थकः। विख्यातोपि प्रकाशित एव भवति ॥७॥

भावार्थ—सर्वव्यापक परमात्माका प्रकाश सबके अन्तःकरणमें है। वही परमात्मप्रकाश सबके शरीरमें प्राण-अपानआदिके व्यापारको चलाता है। वह परमात्मा महान् है अतः सर्वत्र आनन्दका प्रसार करता है ॥७॥

त्रिंशद्धाम विराजति वाक् पतङ्गाय धीयते। प्रतिवस्तोरह द्युभिः ॥८॥

सर्पराज्ञी कद्रूर्ऋषिः। गायत्री छन्दः।

त्रिंशद्धामेति। त्रिंशद्धामा वाग् विराजति शोभते प्रकाशते वा। ङ् ञ् ण् रहिता उदितो द्वाविंशतिः। अन्तस्था यरलवाश्चत्वारः। ऊष्माणः शषसहाश्चत्वारः। एवं संकलितास्त्रिंशद्वर्णाः। एष्वेव स्वरानन्तर्भावियमुक्तिः। ङ् ञ् ण् इत्येतेषां विहाने पदादौ कुत्रापि प्रयोगाभावो हेतुः। णो न इत्यादि

पाणिनिप्रयोगो नास्मत्प्रतिज्ञावरोधकः । एभिस्त्रिंशता वर्णैर्वाग्रचिता भवतीति सा त्रिंशद्धामेत्युच्यते । अनुस्वारविसर्गादीनामयोगवाहानामत्रैव कथञ्चिदन्तर्भावः साधनीयः । त्रिंशता वर्णैर्धमतीति त्रिंशद्धामा । धमतिर्गत्यर्थः । त्रिंशता वर्णैर्धम्यतेऽर्च्यत इति त्रिंशद्धामा वाक् । धमतिरर्चतिकर्मा (निघ. ३।१४। १२) । सा च वेदरूपा वाक् पतङ्गाय गतिमते—पतन् गच्छतीति तस्मै जीवात्मने । "पतेरङ्गच्" (उ० १।११७) । यद्यप्यत्र सूत्रे '—पक्षिणी" त्यपि पठ्यते तथापि तन्नापेक्षणीयम् । निघण्टावश्वार्थकपतङ्गशब्दस्य दर्शनात् । लोकेपि "पतङ्गः शलभे शालिप्रभेदे पक्षिसूर्ययोः" इति बह्वर्थकस्य तस्य दर्शनात् । धीयते धार्यते । उच्चार्यत इति सम्प्रदायः । प्रतिवस्तोः प्रत्यहम् । वस्तोरित्यहर्नाम (निघ. १।६।१) । वस्तोरिति न पञ्चम्यन्तं न वा षष्ठ्यन्तं पदम् । वस आच्छादने । औणादिकस्तोसुन् प्रत्ययः (३।४।१३) । स च व्यत्ययेन कर्तरि । वस्त आच्छादयतीति वस्तोः । अहर्गणो मासानाच्छादयतीति । द्युभिः कान्तिभिः । स जीवात्मा । मुक्तो यथा स्यादित्याद्यध्याहार्यम् । स चाध्याहारोहशब्देनैव, न च बलात् । यद्यपि, अह इति च ह इति च विनिग्रहार्थीयौ पूर्वेण सम्प्रयुज्येते इति निरुक्तम् (१।५) तथापि नेदमहेत्यव्ययपदम् । सौवादिकस्य व्याप्त्यर्थकस्याहधातोर्व्यत्ययेनेदं रूपं प्रथमपुरुषस्यैकवचनम् । एवं च प्रतिवस्तोः प्रतिदिनं स पतङ्गो जीवो द्युभिः कान्तिभिरह अह्नोतु व्याप्नोतु कान्तियुक्तो भवत्वित्याशयः ॥८॥

भावार्थ—ङ् ञ् ण् ये तीन वर्ण कभी भी आद्यक्षर नहीं

बनते हैं। अतः इन्हें छोड़कर कवर्गादि पांचों वर्गोंके २२ अक्षर हैं। य र ल व ये चार अन्त्यस्थ अक्षर हैं। श ष स ह ये चार ऊष्माक्षर हैं। इन्हें जोड़ दें तो २२+४+४=३० अक्षर होते हैं। स्वरोंको इन्हींके अन्तर्भूत मानकर यह ३० अक्षरोंकी गणना है। अयोगवाहोंको भी परिगणित नहीं किया है। त्रिंशद्धाम शब्द वेदका वाचक है। इन्हीं ३० अक्षरोंसे वेद निबद्ध हैं। स्वरों को साथमें ही गिनकर ३० संख्या कही गयी है। **'प्राधान्येन व्यपदेशा भवन्ति।'** स्वर इन व्यञ्जन वर्णोंकी सहायताके लिये हैं अतः वे गौण हैं। भाव यह है कि ३० अक्षरोंसे निबद्ध वेदरूप वाणी जीवात्माओंके कल्याणके लिये ही सुशोभित है। वह जीवात्मा प्रतिदिन शोभाको इसी वेदवाणीसे प्राप्त हो ॥८॥

अग्निर्ज्योतिर्ज्योतिरग्निः स्वाहा सूर्यो ज्योतिर्ज्योतिः सूर्यः स्वाहा। अग्निर्वर्चो ज्योतिर्वर्चः स्वाहा सूर्यो वर्चो ज्योतिर्वर्चः स्वाहा। ज्योतिः सूर्यः सूर्यो ज्योतिः स्वाहा ॥९॥

प्रजापतिर्ऋषिः। पङ्क्तिश्छन्दः।

अग्निः सर्वव्यापकः परमात्मा। अकि अगि गतौ। सर्वत्राङ्गति गच्छति व्याप्नोतीत्यर्थः। ज्योतिर्ज्योतिःस्वरूपः। यश्चायं लौकिकोऽग्निः सोपि ज्योतिर्ज्योतिःस्वरूप एव परमात्मस्वरूप एव। कार्यकारणयोरभेदस्वीकारादेवमुक्तिः। एवमेव द्वात्रिंशेऽध्यायेप्युक्तम्—तदेवाग्निस्तदादित्य इत्यादि। स चाग्नि-

स्वरूपः परमात्मा परमात्मस्वरूपो वाग्निः स्वाहा सुतराम् आ समन्ताद् हा प्राप्तो भवत्वस्मानितिभावः। ओहाङ् गतौ। पुनरपि तमेवाग्निं परमात्मानं स्तौति—सूर्यः सरति सर्वत्र यः स परमात्मा ज्योतिर्ज्योतिस्स्वरूपः। यश्चायं लौकिकः सूर्यः स चापि ज्योतिर्ज्योतिःस्वरूपः परमात्मैव। स्वाहाशब्दो व्याख्यातः। अग्निः परमात्मा वर्चो वर्चस्स्वरूपः। वर्चोऽन्नम्। वर्चस् इत्यन्ननाम (निघ. २।७।२६)। वर्च दीप्तौ। एवं च ज्योतिर्ज्योतिस्स्वरूपः, वर्चोन्नस्वरूपः स परमात्मा स्वाहा प्राप्तो भवत्वस्मानिति गतम्। पौनःपुन्येनार्तो भूत्वा कश्चित्प्रार्थयते—स सूर्यपदवाच्यो वर्चोपदवाच्यो ज्योतिःपदवाच्यः स्वाहा मां प्राप्नोतु। पुनस्तदेव प्रार्थयते ज्योतिः सूर्य इत्यादिना ॥९॥

भावार्थ—सर्वव्यापक परमात्मा प्रकाश-स्वरूप है यह जो लौकिक अग्नि है वह भी परमात्मस्वरूप ही है। वह परमात्मा मुझे सर्वथा प्राप्त हो—उसका मुझे दर्शन हो। सर्वत्र सरणशील परमात्मा ज्योतिःस्वरूप है और यह लौकिक सूर्य भी परमात्म-विभूति होनेसे ज्योतिःस्वरूप ही है। वह परमात्मा अन्नस्वरूप है और लौकिक अन्न भी परमात्मस्वरूप ही है। वह प्रकाश-स्वरूप, ज्योतिस्वरूप, अन्नस्वरूप परमात्मा हमें प्राप्त हो। अर्थात् पारलौकिक और ऐहिक सभी सुख जीवको प्राप्त हों, यह इस मन्त्रका आशय है ॥९॥

सजूर्देवेन सवित्रा सजू रात्र्येन्द्रवत्या। जुषाणो अग्निर्वेतु स्वाहा। सजूर्देवेन सवित्रा सजूरुषसेन्द्रवत्या। जुषाणः सूर्यो वेतु स्वाहा ॥१०॥

प्रजापतिर्ऋषिः। पूर्वार्धस्य गायत्री छन्दः। उत्तरार्धस्य भुरिग् गायत्री छन्दः।

सवित्रा सर्वोत्पादकेन। देवेन परमात्मना। सप्तम्यर्थे तृतीया। तस्मिन्नित्यर्थः। सजूः प्रीतिमान् भव। जुषी प्रीतिसेवनयोः। इन्द्रवत्या–इन्द्रः परमात्मा यस्यामुपास्यते सा रात्रिरिन्द्रवतीत्युच्यते। तस्यां रात्र्यां सजूर्भव। जुषाणः सेवमानः। परमात्मानमिति शेषः। द्वितीयार्थे प्रथमा। परमेश्वरं सेवमानं त्वां शिष्यमुपासकं वा। अग्निः सर्वगः परमात्मा। वेतु प्राप्नोतु। वि गतौ। आशीर्वचनम्। सजूर्देवेनेति व्याख्यातम्। उषसा उषसीत्यर्थः। सप्तम्यर्थे तृतीया। इन्द्रवत्यामुषसि परमात्मा त्वां प्राप्नोत्वित्यप्याशीः। जुषाणः जुष्यमाणः सेव्यमानः। सूर्यः परमात्मा। वेतु त्वां प्राप्नोतु। स्वाहा सु आ हा सुखेन समन्ताद् गमनं कालक्षेपं प्राप्नुहि। उपासकेन रात्र्यां रात्रिमुखे सायङ्काले वा। उषसि प्रातःकाले च सर्वथा परमेश्वरः सेवनीय इत्याचार्योपदेशः ॥१०॥

भावार्थ–हे शिष्य परमात्मदेवके साथ तू प्रीतिमान् बन। रात्रिमें अथवा सन्ध्याकाल एवम् प्रातःकाल तू परमात्माकी उपासना कर। उस उपासनकालमें वह तुझे प्राप्त होगा। परमात्माकी प्राप्तिका कोई नियत काल नहीं है। उपासना

का भी कोई नियत काल नहीं हो सकता । तथापि उसके लिये काल नियत कर लेनेसे उपासनामें अनुकूलता होती है ॥१०॥

उपप्रयन्तो अध्वरं मन्त्रं वोचेमाग्नये। आरे अस्मे च शृण्वते ॥११॥

गोतम ऋषिः । निचृद् गायत्री छन्दः ।

अध्वरं परमात्मानम् । ध्वरतिर्हिंसाकर्मा । हिंसारहितोऽध्वरः । परमात्मैव सः । उपप्रयन्तस्तत्सामीप्यं प्राप्तुं गच्छन्तो वयम् । अग्नये परमात्मन एव । मन्त्रं हृदये सन्निहितं न तु बहिः स्थितम् । वोचेम ब्रूमः । कथंभूतायाग्नये ? आरे दूरे । आरे इति दूरनाम (निघ. ३।२६।१) । चकारात्समीपे । अस्मे अस्माकं मन्त्रं प्रार्थनारूपम् । अस्मान् वा । द्वितीयार्थे षष्ठी । शृण्वते । व्यापको हि परमेश्वरः । यस्तदुपासकः स तस्य समीपेस्ति । यस्तु तदुपेक्षकः स तस्माद्दूरे वर्तते । एवं च ज्ञानिनामज्ञानां च सर्वेषां हृदयस्थं हृदयस्थः स शृणोति जानातीत्यर्थः ॥११॥

भावार्थ—परमशान्त परमात्माको प्राप्त करनेके लिये उसके समीप जानेवाले हम परमात्माके लिये ही मन्त्रका जप करें। वह परमेश्वर हमारे पास भी है और हमसे दूर भी है। उपासकोंके समीप है और उससे जो पराङ्मुख हैं उन से दूर है ॥११॥

अग्निर्मूर्धा दिवः ककुत्पतिः पृथिव्या अयम्। अपाᳬ रेताᳬसि जिन्वति ॥१२॥

विरूप ऋषिः। निचृद् गायत्री छन्दः।

आचार्यः शिष्यमुपदिशति–अयमग्निः परमात्मा। अङ्गति सर्वत्रेत्यग्निः। दिवो द्युतेः प्रकाशस्यानन्दस्य वा। दिवु क्रीडा-विजिगीषाव्यवहारस्तुतिमोदेत्यादिषु। मूर्धाश्रयस्थानमस्ति। मूर्तमस्मिन्धीयते इति मूर्धेति निरुक्तम् (७।२७)। मूर्तं मूर्त-पदार्थाः सर्वे पदार्था इत्याशयः। अयं पृथिव्याः ककुत्पति-र्महापतिः। ककुदितिमहन्नाम। यद्यपि ककुह इत्यकारान्तं नाम निघण्टौ महन्नामसु पठितं न ककुदिति। तथापि तदन्तलोपेन ककुदित्यत्र निर्दिष्टम्। हकारस्य दकार आर्षः। महीधरस्तु ककुदमिति महन्नामेति पठति। ककुदिति महन्नामेत्युवटः। ककुह इति महन्नामेति स्कन्दस्वामी। स एवापां कर्मणाम्। यद्यपि "आपः कर्माख्यायां ह्रस्वो नुट् च वा" इत्यौणादिकं वचनम्। एतेनापसामित्यनेन भाव्यं न त्वपामित्यनेन तथापि-च्छान्दसः सकारलोपो वेदितव्यः। रेतांसि स्रवान् प्रवाहाञ् जिन्वति जयत्यभिभवति। जि अभिभवे। भौवादिको धातुः। विकरणव्यत्ययेन श्नुः॥१२॥

भावार्थ–यह परमात्मा प्रकाश अर्थात् आनन्दका आश्रय-स्थान है। पृथिवीका–सर्वलोकोंका महान् पति है। वही कर्मोंके प्रवाहोंको जीतता है। अर्थात् समूल कर्मनाश ही मुक्तिका योजक है। उन कर्मोंका नाश परमेश्वरकी सात्त्विक उपासना-से ही होता है॥१२॥

उभा वामिन्द्राग्नी आहुवध्या उभा राधसः सह मादयध्यै । उभा दाताराविषां रयीणामुभा वाजस्य सातये हुवे वाम् ॥१३॥

भरद्वाज ऋषिः । विराट् त्रिष्टुप् छन्दः ।

हे इन्द्राग्नी । इराशब्द उपपदे दधातेः "ऋज्रेन्द्र०" (उ० २।२७) इति रक्प्रत्ययान्त इन्द्रशब्दो निपातितः । अन्नं दधातीतीन्द्रः । सर्वपोषकः । अग्निः सर्वव्यापकः प्रकाशरूपो वा । इन्द्राग्निशब्दयोः सहावस्थानस्य वृत्तौ नियतत्वात् समासः । वाच्याभेदेपि वाचकशब्दभेदमादाय द्विवचनोपपत्तिः । उभा उभौ उभेत्यन्तविभक्तेराकारः सुपां सुलुगित्यादिना (पा० ७।१।३९) । वां युवाम् । आहुवध्यै आह्वातुमिच्छामि । उभयगुणविशिष्टं त्वामाह्वातुमिच्छामीति यावत् । आह्वयामीतिभावः । तुमर्थे कध्यै प्रत्ययः । परं तुमर्थोविवक्षितः । किमर्थमाह्वानम् ? उभावुभयगुणविशिष्टं त्वाम् । राधसो भक्तिरूपेण सदाचाररूपेण वान्नेन । राध इत्यन्ननाम । तृतीयार्थे पञ्चमी । स ह स त्वम् । सेति हेति पृथक् पदम् । न तु सहेत्येकं पदम् । मादयध्यै मादयितुं हर्षयितुं प्रसादयितुमिच्छामि । उभा उभौ पूर्वोक्तगुणविशिष्टौ युवाम् । पूर्वोक्तगुणविशिष्टस्त्वमित्यर्थः । इषामिष्यमाणानां रयीणां सम्पदां ज्ञानसदाचारादिरूपाणाम् । दातारौ दातेतिभावः । किं च वाजस्य पवित्रगतेः पवित्राचारस्येति यावत् । वज गतौ । सातये दानाय प्राप्तय इति यावत् । वामुभयगुणविशिष्टं त्वाम् । हुवे आह्वयामि । सत्स्वप्यनन्तेषु

गुणेषु परमात्मनि द्वावेव गुणावत्र स्मृतौ स्वेच्छया सातिरिति षणु दाने इतिधातोर्निपातितः (पा. ३।३।९७)। ह्वयतेः शपि सम्प्रसारणे उवङि हुव इति ॥१३॥

भावार्थ—हे अन्नादिके दाता प्रकाशस्वरूप परमेश्वर, हम आपको बुलाते हैं। ऐश्वर्यस्वरूप तथा प्रकाशस्वरूप आप को भक्तिरूप अथवा सदाचाररूप अन्नसे आपको प्रसन्न करनेकी इच्छा रखता हूँ। आप इष्टकाम ज्ञान, सदाचारादि सभी महासम्पत्तियोंके दाता है। पवित्राचारकी प्राप्तिके लिये उपर्युक्त उभय गुणोंसे विशिष्ट आपको मैं बुलाता हूँ ॥१३॥

अयं ते योनिर्ऋत्वियो यतो जातो अरोचथाः।
तं जानन्नग्न आरोहाथा नो वर्धया रयिम् ॥१४॥

देवश्रवोदेववातावृषी। निचृदनुष्टुप् छन्दः।

आचार्यः शिष्यं बोधयति—हे अग्नेऽङ्गनशील शिष्य। अगि गतौ। अयं परमात्मा। ते तव। योनिरुत्पत्तिकारणम्। जीवानां कर्मफलप्रदानात् परमात्मा योनिरित्युच्यते। स चर्त्वियः प्रत्यृतु संस्मर्तव्यः। ऋतुः प्राप्तोस्येत्यृत्वियः। ऋतु-शब्देन सामान्यकाल इष्यते। ऋधातोस्तुन्नौणादिकः। सर्व-एव कालस्तस्य प्राप्त एवेति। सर्वदा स्मर्तव्य इतिभावः। यतो यस्मात्कारणभूतात्परमेश्वराज्जात उत्पन्नः। अरोचथाः प्रकाशं प्राप्नोषि। तं जानन् हे अग्ने जीव। आरोहोन्नतिं लभस्व। अथ तदनन्तरं नोस्माकं रयिं ज्ञानधनं वर्धयेति ॥१४॥

भावार्थ–आचार्य शिष्यसे कहता है कि हे शिष्य यह परमात्मा ही तेरी उत्पत्तिका कारण है। सदा उसका स्मरण करता रह। उसी परमात्मासे प्रकट होकर तू प्रकाशित हो रहा है। हे जीव, तू ज्ञानको प्राप्त करके उन्नत बनकर हमारे ज्ञान-धनमें वृद्धि कर ॥१४॥

अयमिह प्रथमो धायि धातृभिर्होता यजिष्ठो अध्वरेष्वीड्यः। यमप्नवानो भृगवो विरुरुचुर्वनेषु चित्रं विभ्वं विशे विशे ॥१५॥

वामदेव ऋषिः। भुरिक् त्रिष्टुप् छन्दः।

अयं परमात्मा। प्रथमः प्रथयिता निखिलस्य जगतः। होता जीवोपजीवनसामग्रीप्रदाता। हु दानादनयोः। यजिष्ठोतिशयेन दिव्यगुणविशिष्टः। "अतिशायने तमबिष्ठनौ" (पा. ५।३।५५) इतीष्ठनि "तुरिष्ठेमेयःसु" (पा. ६।४।१५४) इति तृचो लोपः। अथवातिशयेन सर्वपूजितः। ईड्यः स्तुत्यः। अध्वरेषु हिंसारहितेषु पवित्रेषु कर्मसु। अधायि निहितः। डुधाञ् धारणपोषणयोः। चित्रमाश्चर्यकरं चीयमानं वा। विभ्वं विविधै रूपैरात्मानं भावयन्तं प्रकटयन्तं व्यापकं वा। यं परमात्मानम्। विशे विशे प्रतिमनुष्यम्। अप्नवानः कर्मशीलाः। अप्न इति कर्मनाम (निघ. २।१)। तदस्यास्तीति वनिप् (५।२।१२२)। भृगवो भृज्यमानाः पच्यमानाः सत्सु कर्मसु महातेजस्विनो वा। विद्वांसः। विरुरुचुर्विशेषेण दीपयन्ति स्म भूत-

काले दीपयन्ति च वर्तमानकाले ॥१५॥

भावार्थ—यह परमात्मा समस्त जगत्‌का उत्पादक, जीवों के जीवनकी सामग्रीका प्रदाता परम दिव्यगुणविशिष्ट है अतः सभी पवित्र कर्मोंमें उसका आह्वान होता है। जिस परमात्मा को महातेजस्वी विद्वानोंने भूतकालमें प्रत्यक्षित किया था और वर्तमान कालमें प्रत्यक्षित कर रहे हैं ॥१५॥

अस्य प्रत्नामनु द्युत॑ꣳ शुक्रं दुदुह्रे अह्रयः। पयः सहस्रसामृषिम् ॥१६॥

अवत्सार ऋषिः। गायत्री छन्दः।

अस्य परमात्मोपासकस्य प्रत्नां परमप्राचीनं नित्यमिति भावः। द्युतं द्युतिं प्रकाशम्। पयः पेयं धार्यं शुक्रं तेजश्च। ऋषिं सर्वव्यापकम्। ऋ गतौ। ऋषी गतौ वा। सहस्रसामनन्तवस्तुप्रदातारम्। सहस्रं सनोतीति। षणु दाने। अह्रयोह्रियः कुत्सितकर्मणामभावेन न ह्रीर्येषां ते। सत्कर्माण इत्यर्थः। दुदुह्रे दुदुहिरे दुग्धवन्तः प्राप्तवन्त इत्याशयः ॥१६॥

भावार्थ—इस परमेश्वरके नित्य, सर्वव्यापक, अनन्तवस्तु-प्रदाता प्रकाशको—तेजको धर्मात्मा प्राप्त करते हैं ॥१६॥

तनूपा अग्नेऽसि तन्वं मे पाह्यायुर्दा अग्नेऽस्यायुर्मे देहि वर्चोदा अग्नेऽसि वर्चो मे देहि। अग्ने यन्मे तन्वा ऊनं तन्म आ पृण ॥१७॥

अवत्सार ऋषिः। त्रिष्टुप् छन्दः।

हे अग्ने परमात्मन् । त्वं तनूपा तनूस्तनूञ्जनान् पाति रक्षतीति तनूपास्तथाभूतोसि । मे माम् । तन्वमल्पम् । पाहि रक्ष । हे अग्ने, त्वमायुर्दा दीर्घायुर्दा असि । ततो मे मह्यमायुर्दीर्घायुर्देहि । वर्चोदा असि तेजःप्रदातासि ततो मे मह्यं वर्चो देहि । हे अग्ने परमात्मन्, मे मम तन्वा अत्यल्पस्य यदूनमल्पम् । तद् आपृण समन्तात्पूरय ॥१७॥

भावार्थ—हे परमेश्वर, तू दीनोंका रक्षक है । अतः मुझ दीनकी रक्षा कर । तू दीर्घायुका दाता है अतः मुझे दीर्घायु दे । तू शक्ति और तेजका दाता है अतः हे प्रभो तू मुझे शक्ति और तेज दे एवम् जो कुछ मेरा अपूर्ण है, उसे पूर्ण कर ॥१७॥

इन्धानास्त्वा शतꣳ हिमा द्युमन्तꣳ समिधीमहि । वयस्वन्तो वयस्कृतꣳ सहस्वन्तः सहस्कृतम् । अग्ने सपत्नदम्भनमदब्धासो अदाभ्यम् । चित्रावसो स्वस्ति ते पारमशीय ॥१८॥

अवत्सार ऋषिः । निचृद् ब्राह्मी पङ्क्तिश्छन्दः । त्र्यवसाना महापङ्क्तिरित्युवटः । महापङ्क्तिरिति महीधरः ।

हे परमेश्वर, त्वा त्वाम् । द्युमन्तं तेजस्विनम् । वयमिन्धानास्तेजस्विनः । इन्धी दीप्तौ । समिधीमह्यात्मनि दीपयामः । परमेश्वरः स्वयमेव दीप्तोस्त्यतस्तस्य दीपनं तदर्थमनर्थकम् एव । अत आत्मनीतिपदमध्याहार्यम् । तथैव कृत्वा मया व्याख्यातम् । शतं हिमा इति कालमर्यादा । शतं वर्षाणि त्वामात्मनि दीपयाम इतिभावः । शतमुपलक्षणम् । यावज्जीवं त्वां न विस्मरि-

ष्यामो विस्मरेमेति च हार्दम् । एवं वयस्वन्तोऽन्नवन्तो धनवन्तो भूत्वा । वय इत्यन्ननाम (निघ. २।७।७) । वयं वयस्कृतमन्नदातारम् । परमेश्वरानुकम्पयैवान्नप्राप्तिर्भवतीति स वयस्कृदित्युक्तः । समिधीमहीतिपदं सर्वत्रानुषञ्जनीयम् । एवं सहस्वन्तो बलवन्तो भूत्वा वयं सहस्कृतं बलकृतं शत्रुमर्षणयोग्यबलदातारं त्वां समिधीमहि । हे अग्ने सर्वत्राञ्चनशील परमेश्वर । वयमदब्धासोदब्धाः केनापि हिंसकेन मनुष्येण पशुना वा । अदाभ्यमहिंसितव्यम् । सपत्नदम्भनं च ये सपत्नाः कामक्रोधादयस्तेषां महाशत्रूणां दम्भनं परमात्मानुकम्पयैव भवितुमर्हतीति तथाभूतं तं त्वामदाभ्यमहिंसनीयं समिधीमहि । हे चित्रावसो बहुविधशक्तिसम्पन्न, तवानुकम्पया मह्यं स्वस्त्यस्तु, तेनाहं ते तव पारं पालनं त्वत्कृतपालनमित्यर्थः । अशीय प्राप्नुयामित्याशयः ॥१८॥

भावार्थ–हे परमेश्वर, तेजस्वी तुमको हम अपने हृदयमें सौ वर्षों तक प्रदीप्त करते रहें । हम धनसम्पन्न होकर धनदाता तुमको, एवं बलवान् होकर बलदाता तुमको हृदयमें प्रदीप्त करते हैं । हे परमेश्वर हम किसी मनुष्य अथवा पशुसे अहिंसित रहकर, अहिंसनीय तथा कामक्रोधादि हमारे शत्रुओंको मारने वाले तुमको हृदयमें स्थापित करते हैं । हे बहुविधशक्तिसम्पन्न परमेश्वर तुम्हारी कृपासे हमारा कल्याण हो और हम सदा आ[illegible]की पालनशक्तिसे सुरक्षित रहें ॥१८॥

सं त्वमग्ने सूर्यस्य वर्चसागथाः समृषीणाᳬ स्तुतेन। सं प्रियेण धाम्ना समहमायुषा सं वर्चसा सं प्रजया सᳬरायस्पोषेण ग्मिषीय ॥१९॥

अवत्सार ऋषिः। जगती छन्दः।

आचार्यः शिष्यमाशिषा योजयति—अग्नेग्निवद्विद्यया प्रकाशमान शिष्य, त्वम्। सूर्यस्य वर्चसा समगथाः संगतो भव। ऋषीणां वेदविद्यामहाधनानां स्तुतेन प्रशस्तेन वर्चसा तेजसा समगथाः संगतो भव। प्रियेण तृप्तिकरेण तर्पकेण वस्तुना साधनेन ज्ञानेन च समगथाः। धाम्ना तेजसा विद्यायाः सदाचारस्य च समगथाः। शिष्य आचार्यं प्रार्थयते—अहमायुषा दीर्घेण संग्मिषीय संगतो भूयासं वर्चसा संगतो भूयासं, प्रजया संगतो भूयासं, रायस्पोषेण धनसमृद्धया च संगतो भूयासम् ॥१९॥

भावार्थ—आचार्य शिष्यको आशीर्वाद देता है कि तुम अग्निके समान विद्याके प्रकाशसे युक्त हो अतः तुम सूर्यके तेजको प्राप्त हो, ऋषियोंके ब्रह्मवर्चससे युक्त बनो। और सभी आवश्यक तृप्तिप्रद वस्तुओंसे युक्त बनो एवं विद्या और सदाचारके तेजसे तेजस्वी बने रहो। शिष्य आचार्यसे प्रार्थना करता है—मैं दीर्घ आयुष्य प्राप्त करूं एवं तेज, प्रजा और धन-समृद्धिसे सदा सम्पन्न रहूं ॥१९॥

अन्ध स्थान्धो वो भक्षीय मह स्थ महो वो भक्षीयोर्ज स्थोर्जं वो भक्षीय रायस्पोष स्थ रायस्पोषं वो भक्षीय ॥२०॥

याज्ञवल्क्य ऋषिः । भुरिग् बृहती छन्दः ।

शिष्य आचार्यं वा परमेश्वरमुपासको वा प्रार्थयते—यूयं ममान्धः स्थ मम सदा सर्वथाध्यानीयाः स्थ । अन्ध इत्यन्ननाम (निघ० २।७।१) आध्यानीयं भवतीति यास्कः (नि. ५।१) । युष्माकमन्धोन्नं भक्षीय सेवेय । भज सेवायाम् । अत्रायं भावः । आचार्यः परमेश्वरो वान्नस्वरूपः । आचार्योप्याध्यायते परमेश्वरोपि । अत उभावेवान्नस्वरूपौ । अतएवाहान्ध स्थेति । अत्राभेदोभिमत उभयोः । भेदेनाधुना ब्रवीति । अन्धो वो भक्षीयेति । युष्माकमाचार्याणां परमेश्वरस्य वान्नं भक्षीय सेवेयेति । अत्रान्नमाध्यातव्यमेव । अध्यातव्यत्वं चात्र भक्षणीयत्वं ग्राह्यत्वं वा । यूयमन्नं सर्वेषां ग्राह्योत एवाहं त्वां सेवेय । स्थ इति बहुवचनं तत्कृतयूयमितिबहुवचनोपस्थितिश्चाविवक्षिते । सर्वत्रैवास्मिन्मन्त्र एषा गतिः । महः स्थ त्वं महोसि तेजःस्वरूपोसि, अतस्तव महस्तेजो भक्षीय सेवेय । एवं यूयम् ऊर्जः स्थ ऊर्वस्वरूपोसि । वो युष्माकं तवोर्क् तेजो बलं वा भक्षीय सेवेय । रायस्पोषः स्थ धनपुष्टिरूपोसि । रैशब्दार्थो धनमिति । धनं चात्र ज्ञानसर्वकषैश्वर्याद्येव ग्राह्यम् । वस्तव रायस्पोषं ज्ञानादिपुष्टिं भक्षीय सेवेय । गुरोः परमेश्वरस्य वा सर्व एव गुणा ग्राह्या इत्युपदेशहृदयम् ॥२०॥

भावार्थ–शिष्य आचार्यसे अथवा उपासक परमेश्वरसे प्रार्थना करता है कि आप ही मेरे ध्यातव्य हैं। और आप ही मेरे अन्न हैं-भक्ष्य हैं अर्थात् आपही मेरे सर्वस्व हैं। मैं आपका ही निरन्तर सेवन करूं। आप तेजस्स्वरूप हैं अतः आपके तेजका मैं पात्र बनूं। आप बलस्वरूप हैं अतः मैं आपके बलको प्राप्त करूं। आप ज्ञान और सर्वोत्कृष्ट-ऐश्वर्य स्वरूप हैं अतः मैं उन्हें भी प्राप्त करूं। आपके दिये हुए ज्ञानादि पोषक तत्वोंका मैं सदा अनुसंधान करता रहूं ॥२०॥

रेवती रमध्वमस्मिन्योनावस्मिन् गोष्ठेऽस्मिँल्लोकेऽस्मिन् क्षये। इहैव स्त मापगात ॥२१॥

याज्ञवल्क्य ऋषिः। उष्णिक् छन्दः।

रेवती रेवत्यो विद्वन्मण्डल्यो यूयमत्र रमध्वमानन्दमनुभवत। रेवत्यो धनवत्यः। धनं च विद्यासंस्काररूपम्। रयिशब्दान्मतुप् संप्रसारणम्। पररूपम्। गुणः। मस्य वः। अत्र कुत्र? अस्मिन् योनौ गृहे। योनिरिति गृहनाम (निघ० ३।४।१४)। अस्मिन् गोष्ठे विद्वत्समाजे। अस्मिल्लोके मनुष्यसमाजे। लोकृ दर्शने। परमेश्वरालोकोत्कण्ठिते मनुष्यसमाज इत्यर्थः। अस्मिन् क्षये निवासस्थाने च। मानवानां मध्ये कल्याणराशिरचनाय विद्वद्भिः स्थेयमित्याशयः। लोकाः प्रार्थयन्ते विद्वन्मण्डलीः– इहैवास्मत्समीप एव स्त भवत तिष्ठत। मापगात मापगच्छतेति ॥२१॥

भावार्थ–हे विद्वानो, आप लोग इस (मेरे घर)में विद्व-

त्समाजमें, इस मनुष्यसमाजमें इस निवासस्थानमें मनुष्योंका कल्याण करनेके लिये निवास करें। लोक प्रार्थना करते हैं कि विद्वानो, आप लोग हमारे पास ही रहें; अन्यत्र दूर न जावें॥२१॥

सꣳहितासि विश्वरूप्यूर्जामाविश गौपत्येन। उप त्वाग्ने दिवेदिवे दोषावस्तर्धिया वयम्। नमो भरन्त एमसि॥२२॥

वैश्वामित्रो मधुच्छन्दा ऋषिः। भुरिगासुरी गायत्री। उपत्वेत्यन्तस्य गायत्री छन्दः।

विद्यां सम्प्रार्थयते— संहितासि सर्वथा हिता हितकारिण्यसि। विश्वरूपी चासि विश्वानि सर्वाणि विविधानि वा रूपाणि यस्यास्तथाभूतासि। विद्याया बहुविधत्वादेषोक्तिः। अतस्त्वं गौपत्येन वाचस्पत्येन हेतुना। ऊर्जा बलेन स्वशक्त्या सहेति तात्पर्यम्। मा माम्। आविश प्रविश। येनाहं त्वद्वान् स्याम्। विद्यावन्तं गुरुं प्रार्थयते—हे दोषावस्तः दोषाणामाच्छादक। दोषानावस्त आच्छादयतीति दोषावस्तः। तृच् प्रत्ययान्तस्तृन्प्रत्ययान्तो वा। स्वरविचारो हेयः। निरर्थकत्वात्। हे अग्ने आचार्य दिवेदिवे प्रतिदिनम्। वयं शिष्यास्त्वा त्वामाचार्यं विद्यानां ग्राहयितारम्। धिया बुद्ध्या। धीप्राप्तिहेतुना। गच्छामः। उपेत्युपसर्गवशाद् योग्यक्रियाध्याहारः। किं च नमो नमस्कारम्। भरन्तः प्रणमन्तस्त्वामितिभावः।

एमसि आ इमसि समन्तात् सर्वथा वागच्छामः प्राप्नुमस्त्वा-मितिभावः ॥२२॥

भावार्थ–शिष्य विद्याकी प्रार्थना करता है–तू सबकी हित करनेवाली और विविध रूपवाली है अतः तू मुझमें वाचस्पत्य धारण करानेके लिये अपनी शक्तिसे मुझमें प्रवेश कर। जिससे कि मैं विद्वान् बनूं। अब शिष्य गुरुसे प्रार्थना करता है–हे आचार्य प्रतिदिन हम सब शिष्य विद्याप्राप्तिके लिये आपको नमस्कार करते हुए आपके पास आते हैं ॥२२॥

राजन्तमध्वराणां गोपामृतस्य दीदिवम्। वर्द्ध-मानꣳ स्वे दमे ॥२३॥

वैश्वामित्रो मधुच्छन्दा ऋषिः। विराड् गायत्री छन्दः।

गुरुमेव विशिनष्टि–कीदृशं गुरुं प्राप्नुयामित्याह–अध्वराणामहिंसाकर्मणां राजन्तं राजयितारं दीपयितारम्। गोपां विद्यापातारम्। ऋतस्य सत्यस्य सत्यज्ञानस्येतिभावः। दीदिवं दीपयितारम्। किं च स्वे स्वकीये स्वकीयानामिति भावः। इन्द्रियाणां मनसश्च। दमे दमने वर्धमानं वृद्धिमन्तम् ॥२३॥

भावार्थ–इस मन्त्रमें भी गुरु ही देवता है। कैसे गुरुको हम प्राप्त करें इसके लिये इस मन्त्रमें उपदेश हुआ है कि अहिंसा कर्मको सदा प्रकाशित रखनेवाले, विद्याकी रक्षा करने वाले सत्यज्ञानको प्रदीप्त रखनेवाले तथा अपने इन्द्रियोंको दमन करनेमें सदा प्रयत्नशील गुरुको हम प्राप्त करें ॥२३॥

स नः पितेव सूनवेऽग्ने सूपायनो भव। सचस्वा नः स्वस्तये ॥२४॥

वैश्वामित्रो मधुच्छन्दा ऋषिः। विराड् गायत्री छन्दः।

पुनरप्याचार्यमेवोद्दिश्य शिष्योक्तिरियम्—हे अग्ने तेजस्विन्नाचार्य, पूर्वोक्तगुणविशिष्टस्त्वम्। नोस्माकं शिष्याणाम्। सूपायनः सुखेनोपैतुं शक्यो भव। उदाहरति। पितेव सूनवे यथा पिता स्वस्य सूनवे सम्यक् स्तुताय पुत्राय सूपायनो भवति तथा। किं च नोस्माकम्। स्वस्तये कल्याणाय। सचस्व सेवस्व संरक्षास्मानितिशेषः ॥२४॥

भावार्थ—पुनः शिष्य आचार्यसे प्रार्थना करता है कि हे तेजस्वी आचार्य, आप हम शिष्योंके लिये उसी प्रकार सुखसे प्राप्तव्य बनें जैसे अपने पुत्रके लिये पिता सुखसे प्राप्तव्य होता है। हमारे कल्याणके लिये आप हमारी रक्षा करें ॥२४॥

अग्ने त्वं नो अन्तम उत त्राता शिवो भवा वरूथ्यः। वसुरग्निर्वसुश्रवा अच्छा नक्षि द्युमत्तमꣳ रयिं दाः ॥२५॥

सुबन्धुर्ऋषिः। भुरिग् बृहती छन्दः।

हे अग्ने परमात्मन्, त्वं नोस्माकमन्तमोन्तिकतमो भव। अम गतौ। अमति समीपं प्राप्नोति सर्वत्र गच्छतीति वा। अम्। क्विप्। अतिशयितोम् अन्तमः। यद्यन्तिकशब्दात्तमप्

तर्हि पृषोदरादित्वमस्य कल्प्यम् । उत अपि च । त्राता रक्षको भव । शिवः शान्तस्वरूपः, शेते सर्वं जगद्यस्मिन्त्स शिव इति वा । सर्वाधार इति । सर्वाधारो भवेत्युक्तौ न हि काचिच्चमत्कृतिः । वरूथ्यो वरणीयो ममापि भव । त्वं वसु सर्वेषां लोकानां स्वस्मिन्वासयितासि । अग्निरङ्गनशीलः सर्वत्र, व्यापकोसीतिभावः । वसुश्रवा वसुत्वेन वासयितृत्वेन सर्वेषां श्रवो यशो यस्य तथाभूतोसि । किं च त्वम् अच्छा अच्छ आभिमुख्येन नक्षि व्याप्नुह्यस्मासु । अथवाच्छेत्यस्याप्तुमित्यर्थ इति शाकपूणिः । एवं च सद्धर्ममिति शेषः । सद्धर्ममाप्तुं नक्षि । नशिराप्नोतिकर्मा । व्याप्नुह्यस्मान् । व्यापकस्यापि व्याप्नुहीति प्रार्थनं प्रेरणाप्राप्त्यर्थम् । सद्धर्ममाप्तुं प्रेरयास्मानितिभावः । द्युमन्तममतिशयेन प्रकाशयुक्तम् । रयिं धनं ज्ञानरूपं सदाचाररूपं वोभयं वा दा देहीति । दा इति ददातेर्लुङि रूपम् । तच्च लोडर्थं बोधयति ।।२५।।

भावार्थ—हे परमेश्वर, तुम हमारे अतिनिकटस्थ बनो । तुम हम सबके रक्षक और वरण करनेके योग्य बनो । तुम सब को आश्रय देनेवाले हो; हममें प्रविष्ट हो जावो और यशस्वी ज्ञान और सदाचारसे हमें पूर्ण करो ।।२५।।

तं त्वा शोचिष्ठ दीदिवः सुम्नाय नूनमीमहे सखिभ्यः । स नो बोधि श्रुधी हवमुरुष्या णो अघायतः समस्मात् ।।२६।।

सुबन्धुर्ऋषिः । स्वराड् बृहती छन्दः ।

हे शोचिष्ठ दीप्तिमय। शुच दीप्तौ। शोचति दीप्यत इति शोचः। अतिशयेन शोचः शोचिष्ठः। सम्बुद्धौ रूपम्। हे दीदिवः सर्वेषां द्योतयितः। दिवु क्रीडाविजिगीषाव्यवहार-द्युत्यादिषु। त्वां परमेश्वरम्। सुम्नाय सुखाय। सुखप्राप्तय इति भावः। सुम्नं सुखमिति निघण्टुकारः (३।६।१६)। रास्ना॰ सास्नासुम्नद्युम्ननिम्नेति (भो. २।२।१८४) भोजसूत्रम्। सुष्ठु म्नायत इति सुम्नं सुखम्। नूनम्। सखिभ्यः समानख्यातेभ्यो मित्रेभ्य ईमहे याचामहे। ईमह इति याच्ञाकर्मसु पठितः (निघ० ३।१६।१)। स त्वं बोधि नोस्मान्सेवकान् पुत्रभूतान्वा जानीहि। हवमाह्वानं च श्रुधि शृणु। समस्मात्सर्वेभ्यः। अघायतोघं परस्येच्छद्भ्यो दुर्जनेभ्यः। बहुत्वार्थे एकवचनम्। नोस्मान्। उरुष्य रक्ष। उरुष्यती रक्षाकर्मेति (५।२३।१) यास्कः ॥२६॥

भावार्थ–हे प्रकाशमय और सबको प्रकाशित करनेवाले परमेश्वर हम अपने मित्रोंके लिये सुखकी याच्ना करते हैं। आप हमारी ओर देखें और हमारी प्रार्थनाको सुनें। दूसरों के कार्यको बिगाड़नेवाले दुष्टोंसे हमारी रक्षा करें ॥२६॥

इड एह्यदित एहि काम्या एत। मयि वः कामधरणं भूयात् ॥२७॥

श्रुतबन्धुर्ऋषिः। विराड् गायत्री छन्दः।

हे इडे सर्वैरीड्ये भगवति। हे परमेश्वर एह्यस्मद्हृदये। हे अदितेदीने भगवति एह्यागच्छ। उभयत्र स्त्रीत्वेन विवक्षितः

परमात्मा। अलिङ्गत्वात्तस्य यथाकथञ्चिदपि विवक्षा समीचीनै-वेति। काम्याः कामयितव्या विद्वांसः। एतागच्छत। मय्यु-पासके। वो युष्माकम्। कामधरणमिच्छापोषणं च भूयात्। डुधाञ् धारणपोषणयोः। यद्युष्माभिरेष्टव्यं तन्मयादर्त्तव्यमिति भावः ॥२७॥

भावार्थ—हे सर्वस्तुत तथा अदीन परमेश्वर मेरे हृदयमें निवास करो। विद्वानो, तुम भी मेरे पास आवो और आपकी इच्छा पूर्ण हो। अर्थात् जो आपलोग उपदेश करेंगे, उसे ही मैं आदरके साथ करूंगा ॥२७॥

सोमानᳪ स्वरणं कृणुहि ब्रह्मणस्पते। कक्षी-वन्तं य औशिजः ॥२८॥

विप्रबन्धुर्ऋषिः। विराड् गायत्री छन्दः।

हे ब्रह्मणस्पते आचार्य। मां सोमानं स्तोतारं ज्ञानस्य। स्वरणं प्रकाशवन्तमर्चावन्तं वा कुरु। स्वरतिरर्चतिकर्मा (निघ. ३।१४।४१)। किं च कक्षीवन्तमपि कुरु। कक्षीवन्तं कक्षावन्तं दुराचारिणां दुराचारस्य वा हिंसाकर्तारम्। कष हिंसायाम्। कृतॄवदिहनिकमिकषिभ्यः सः (उ० ३।६२) इति स प्रत्ययः। कक्षीत्यत्रेकारश्छान्दसः। स्वतन्त्रत्वाद्वेदस्य प्रथमान्तेनापि विशि-नष्टि—योहमौशिजो मेधाविसम्बन्ध्यस्मि। उशिज इति मेधावि-नामसु पठितम् [निघ. ३।१५।१६]। मेधाविनो मह्यं रोचन्त इत्यहमौशिजोस्मि। मामौशिजमपि कुर्वित्याशयः प्रार्थ-नायाः ॥२८॥

भावार्थ–हे आचार्य, मुझे ज्ञानका स्तोता और प्रकाशवान् बनाइये। एवम् मुझे दुराचारियों और दुराचारोंका नाश करनेवाला भी बनाइये। मुझे मेधावी पुरुष सदा रुचें, ऐसा कीजिये ॥२८॥

यो रेवान् यो अमीवहा वसुवित्पुष्टिवर्धनः। स नः सिषक्तु यस्तुरः ॥२९॥

मेधातिथिर्ऋषिः। गायत्री छन्दः।

वेदवक्ताचार्यः प्रार्थ्यते। य आचार्यो रेवान्धनवान्। वेदो हि महद्धनं विदुषाम्। एवं च यो वेदविद्याविद्वानाचार्योस्ति। यश्चामीवहा संसारव्याधिनिहन्ता। अथवा अमीवा हिंसिता। रागद्वेषादयो दोषा जीवानां हिंसितारः सन्ति तेषां निहन्तेति। यश्च वसुविद् वासयति सर्वं जगत्स्वस्मिन्निति वसुः परमात्मा तद्विद्। यश्च ब्रह्मज्ञ इत्यर्थः। यश्च पुष्टिवर्धनो धर्मबुद्धिपोषकः यश्च तुरस्तारयिताविद्यामहासागरात्। तुर इति तरतेर्वा त्वरतेर्वा त्वरया तूर्णगति… (निरु. १२।१४)। स महावेदाचार्यो नोस्मान्। सिषक्तु सेवतां रक्षत्वित्यर्थः ॥२९॥

भावार्थ–शिष्यगण अथवा सामान्यप्रजा प्रार्थना करती हैं कि जो वेदविद्याके महान् विद्वान् हैं, जो संसाररूपव्याधिके परम वैद्य हैं, जो परमेश्वरको यथातथ जाननेवाले हैं, जो धर्म-वृद्धिको दृढ़ बनानेवाले हैं, तथा जो अविद्या महासागरसे पार उतारनेमें समर्थ हैं–ऐसे आचार्य हमारी रक्षा करें ॥२९॥

त्रीणां मित्रस्यार्यम्णो वरुणस्य चेति त्रयाणाम् । अवो रक्षणमस्तु । मित्रं स्निग्धः सुकुमारहृदयः । जिमिदा स्नेहने । अर्यं स्वामिनमाचार्यमित्यर्थः । आचार्य एवाचार्यकुले निवसतां शिष्याणां स्वामी भवति । आचार्यं मन्यते पूज्यत्वेन जानातीत्यर्यमा । वरुणो वरणीयः । एतेषां रक्षणं प्रार्थ्यते सर्वोपकारकत्वात् । अथवैतैस्त्रिभिः कृतं लोकरक्षणं प्रार्थ्यते । कर्तरि षष्ठी । तच्च रक्षणं महि महद्भवति महनीयं भवतीति वा । न केवलं महीत्येव ; द्युक्षं परमात्माभिगमने क्षं क्षमं समर्थम् । तेन रक्षणेनैव परमात्मप्राप्तिक्षमता भवतीति तस्य रक्षणं कार्यमितिभावः । दुराधर्षं च दुराधर्षमधर्षम् । नञोर्थे दुरुपसर्गः । कैश्चिदप्यनिष्टैस्तत्त्वैर्धर्षयितुमशक्यम् ॥३१॥

भावार्थ–मित्र=सुकुमार हृदयवाले, अर्यमा=आचार्यमें पूज्यबुद्धि रखनेवाले, तथा वरणीय=वरण करनेयोग्य, हे परमेश्वर इन तीनों शिष्योंकी=मनुष्योंकी रक्षा हो, ऐसी कृपा क[illegible] वह रक्षण बहुत महत्वपूर्ण होगा । उसी रक्षासे मनुष्य परमेश्वर (आप)की ओर जानेमें समर्थ होंगे । आपका किया हुआ वह रक्षण कभी भी व्यर्थ नहीं जायगा ॥३१॥

न हि तेषाममा चन नाध्वसु वारणेषु । ईशे रिपुरघशꣳसः ॥३२॥

सत्यधृतिर्वारुणिर्ऋषिः । निचृद् गायत्री छन्दः ।

तेषां मित्रावरुणयोरर्यम्णश्च । अमा चन गृहेपि । अमेति गृहनाम (निघण्टु ३।४।११) । अम गतिभक्षशब्देषु । 'पुंसि

संज्ञायां घः प्रायेण" (पा. ३।३।११८) इति घः। अम्यते भक्ष्यते यस्मिन्नित्यमा। विभक्तेर्लुक्। अघशंसोघं शंसतीति। पापाचारः। रिपुर्हिंसकः। न हि ईशे ईष्टां समर्थो न भवत्वित्यर्थः। एवमध्वसु धर्ममार्गेषु वारणेषु वारयन्ति पापेभ्यस्तासु सतीषु मनोवृत्तिषु च। नेष्टाम्। यत्र स्थिता मनोदोषाः कामादयः सत्कर्मतो वारयन्ति ता मनोवृत्तयो वारणान्युच्यन्ते। अथवा वेति पृथक् पदं समुच्चयार्थकम्। रणेषु शब्दव्यापारेष्वध्ययनाध्यापनादिषु च विघ्नकारी नेष्टाम् ॥३२॥

भावार्थ—उपर्युक्त मित्र, वरुण और अर्यमाका कोई हिंसक समर्थ न हो, एवं धर्ममार्गमें रहनेवाली पवित्र मनोवृत्तियों पर भी किसी दुष्टका प्रभाव न हो ॥३२॥

ते हि पुत्रासो अदितेः प्रजीवसे मर्त्याय। ज्योतिर्यच्छन्त्यजस्रम् ॥३३॥

सत्यधृतिर्वारुणिर्ऋषिः। विराड् गायत्री छन्दः।

अदितेरखण्डयस्य परमात्मनः। ते विद्वांसः सदाचाराश्च। पुत्रासः पुत्राः। यद्यपि "शृण्वन्तु विश्वे अमृतस्य पुत्रा" इतिदिशा सर्व एव मनुष्याः परमात्मपुत्रा एव तथापि दुःखत्रातार एवात्र पुत्रशब्देन विवक्षिताः। प्रजीवसे सुखेन जीवितुम्। मर्त्याय मनुष्याय। अजस्रमविनाशि ज्योतिः प्रकाशं ज्ञानरूपम्। यच्छन्ति यच्छन्तु वा। हीति दार्ढ्यद्योतको निपातः।

परमेश्वरभक्ताः सर्वेभ्यो मनुष्येभ्यः सुखेन जीवनाय शक्तिं समर्पयन्त्विवतिभावः ॥३३॥

भावार्थ–अखण्डनीय परमात्माके विद्वान् और सदाचारी पुत्र सुखसे जीनेके लिये मनुष्योंको अविनाशी ज्ञानरूप प्रकाश-का दान दें ॥३३॥

कदाचन स्तरीरसि नेन्द्र सश्चसि दाशुषे। उपोपेन्नु मघवन्भूय इन्नु ते दानं देवस्य पृच्यते ॥३४॥

मधुच्छन्दा ऋषिः। पथ्या बृहती छन्दः।

हे इन्द्र परमैश्वर्य परमेश्वर, त्वं कदाचन कदापि स्तरी-र्हिंसको न असि न भवसि। स्तृञ् हिंसायाम्। त्वं कस्यापि कदाप्यनिष्टचिन्तको नासि। तथापि दाशुषे दाश्वांसम्। द्वितीयार्थे चतुर्थी। योज्ञानेभ्यो ज्ञानं ददाति, भीतेभ्योभयं ददाति दुराचारेभ्यश्च सदाचारं ददाति तं सश्चसि प्रति-गच्छसीति। तदुद्धारायेतिभावः। अथवा सश्चसि सेवसे पालयसीति। सेवार्थकसचतेः शकार उपजनश्छान्दसः। हे मघवन् पूज्य, ते तव दानं त्वया कृतं रक्षणरूपदानमितिभावः। भूय आधिक्येन। इत् नु=एव। उप पृच्यते संपृक्तं भवति। त्वत्कृतं रक्षणं स्थायि भवत्यनश्वरं चेति भावः। उपपृच्यत इन्नु उपपृच्यत इन्नु इति द्विरुक्तिरार्तोक्तिः ॥३४॥

भावार्थ–हे परमेश्वर, तुम कभी किसीको दुःख नहीं देते हो। तथा जो अज्ञानियोंको ज्ञान देते हैं, डरे हुओंको अभयदान

देते हैं, दुराचारियोंको सदाचारी बनाते हैं, तुम उनकी ओर जाते हो- उनकी रक्षा करते हो। हे पूज्य, तुम्हारा वह रक्षारूप दान स्थायी होता है ॥३४॥

तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि। धियो यो नः प्रचोदयात् ॥३५॥

विश्वामित्र ऋषिः। निचृद् गायत्री छन्दः।

सवितुः सर्वोत्पादकस्य। देवस्य दिव्यगुणविशिष्टस्य। परमेश्वरस्येत्यर्थः। तद्वरेण्यं वरणीयम्। भर्गस्तेजः धीमहि ध्यायामो ध्यात्वा स्वस्मिन्स्थापयाम इति यावत्। यो यत्। लिङ्गविपर्ययः। नोस्माकमुपासकानाम्। धियो मतीः। कर्माणि वा। धीरिति कर्मनाम (निघ. २।१।२१)। धृञ् धारणे। धारयन्ति पोषयन्ति कर्तारं फलदानेन। प्रचोदयात्प्रेरयेत् सन्मार्ग इति भावः। अथवा सविता सूर्यः। सोपि देव एव दिव्यगुणविशिष्ट एव। जलवर्षण-वस्तुदोषनिवारण-प्रकाशप्रदान-बलप्रदान-स्वास्थ्यप्रदानादयः सूर्यगुणाः। भूम्याकर्षणं विषाक्तजन्तूनां स्वकिरणैर्विनाशनं गृहादिशोधनमपि सूर्यगुणाः। अतएव दानाद्वा द्योतनाद्वा दीपनाद्वा देवः सूर्यः। स एव सर्वाञ्जन्तून् स्वस्वकर्मणि निरतान् करोति। तस्मिन्नुदित एव लौकिकानां सर्व एव व्यवहाराः प्रचलन्तीति तत्स्तुतिः ॥३५॥

भावार्थ–सर्वोत्पादक दिव्यगुणविशिष्ट परमेश्वरके उस तेज का हम ध्यान करते हैं जो हम उपासकोंकी बुद्धिको अथवा कर्म-को सन्मार्गमें प्रेरित करता है ॥३५॥

परि ते दूडभो रथोऽस्माँ २ अश्नोतु विश्वतः।
येन रक्षसि दाशुषः ॥३६॥

वामदेव ऋषिः। निचृद् गायत्री छन्दः।

हे परमेश्वर, ते तव दूडभो दुर्दभः। दभ्नोतिर्वधकर्मा। दुर्दभ इत्यत्र दुरित्युपसर्गस्य रेफस्योपशम आर्षः। दकारस्य उकारः। "दुरो दाशनाशदभध्येषूत्वमुत्तरपदादेः ष्टुत्वं च" इति कात्यायनवचनादुक्तमनोरथसिद्धिः। दुर्गमो वा। दभ्नोतिर्गत्यर्थोपि। रथः शब्द उपदेश इति भावः। रथो रंहतेर्गतिकर्मणः। स्थिरतेर्वा स्याद्विपरीतस्य। रममाणोस्मिंस्तिष्ठतीति वा। रपतेर्वा। रसतेर्वेति यास्कः (९।१२)। स्थिरतिर्नैरुक्तो धातुः। अस्मानुपासकान्। विश्वतः सर्वतः। पर्यश्नोतु परिव्याप्नोतु परितः सर्वतोस्मान् व्याप्नोतु। यत्र यत्र गच्छामस्तिष्ठामो वा तत्र सर्वत्र तवोपदेशोस्माकमग्रत एव तिष्ठत्वित्याशयः। येन रथेन वेदशब्देन। त्वं दाशुषस्तुभ्यमेव स्वमात्मानं दत्तवतः समर्पयतो भक्तान्। रक्षसि त्रायसे। दाशतेर्वा दानकर्मण इति निरुक्तोक्तेरपि दाशिर्दानार्थकः। दाशृ दाने इति पाणिनीयाः ॥३६॥

भावार्थ—हे ईश्वर, तुम्हारा दुर्गम उपदेश हम उपासकोंमें भले प्रकार व्याप्त हो जाय। जिस उपदेशसे तुम अपने प्रपन्नों की सदा रक्षा करते हो ॥३६॥

भूर्भुवः स्वः सुप्रजाः प्रजाभिः स्याᳫं सुवीरो वीरैः सुपोषः पोषैः। नर्य प्रजां मे पाहि शᳫंस्य पशून्मे पाह्यथर्य पितुं मे पाहि ॥३७॥

वामदेव ऋषिः। आसुरिरिति केचित्। ब्राह्मी उष्णिक् छन्दः।

हे भूः स्वयं भवतीति भूर्न केनाप्युत्पाद्य। हे भुव सर्वेषां भावयितः। भावयति मिश्रीकरोति परमाणूञ्जगदुत्पादनायेति। अथवा भावयते भवते प्राप्नोति व्याप्नोति सर्वमिति भुवः। भू प्राप्तौ। आत्मनेपदी। हे स्वः, दुष्टोपतापक। स्वृ शब्दोपतापयोः। स्वरति दुष्टानुपतापयतीति स्वः। अथवा सुपूर्वादर्तेरन्तर्भावितण्यर्थादन्येभ्योपि दृश्यते (पा. ३।२।७५) इति विच्। गुणः। सर्वान्दोषान् सर्वाणि वा दुःखानि शोभनतयेर्यतिगमयति दूरं प्रापयति नाशयतीतिभावः। एतेषामव्ययत्वेपि सम्बुद्ध्यर्थे शक्तिरत्र। प्रजाभिरपत्यैः सुप्रजाः स्याम्। वीरैर्विशेषेण पापानामीरयितृभिः पुरुषैरिन्द्रियैर्वा। सुवीरः शोभना वीरा विशेषेण पापानामीरयितारः पुरुषाः शिष्या ईरयितॄणीन्द्रियाणि वा यस्य तथाभूतः स्याम्। पोषैः पोषणसाधनैर्ज्ञानचारित्रादिभिः सुपोषः स्यां सुपुष्टः स्यामिति भावः। हे नर्य नरोपकारक परमात्मन् मे मम प्रजां पाहि। हे शंस्य प्रशंसनीय परमेश्वर, पशून्समदर्शनाञ् ज्ञानिन इति यावत्। समानं पश्यन्तीति पशवः। पश्यति सर्वानिति वा। दृशिधातोः कुः पश्यादेशः। हे अथर्य सर्वव्यापक। अथवा नित्यमहिंस्य। थुर्वी हिंसायाम्।

मे मम पितुं शरीररक्षणसामग्रीं ज्ञानरक्षणसामग्रीं वा। पा रक्षणे। तुः प्रत्ययः। बाहुलकादिकारः। पाहि रक्ष ॥३७॥

भावार्थ—हे स्वयम्भूः, हे सर्वोत्पादक, हे दुष्टोपतापक, हम सुन्दर-प्रजावाले बनें। पापों अथवा दुष्टोंको निवारण करनेमें समर्थ हमारे शिष्य या पुत्र हों। ज्ञान तथा चारित्रसे हम सदा पुष्ट रहें। हे परमेश्वर, हमारी प्रजा=सन्तानादि-शिष्यादिकी रक्षा करो। हे प्रशंसाके योग्य सर्वव्यापक तुम हमारे शरीर और ज्ञानकी रक्षा करनेवाली सामग्रियोंकी रक्षा करते रहो।

आगन्म विश्ववेदसमस्मभ्यं वसुवित्तमम्। अग्ने सम्राडभि द्युम्नमभि सह आयच्छस्व ॥३८॥

आसुरिर्ऋषिः। अनुष्टुप् छन्दः।

हे अग्ने परमात्मन्, हे सम्राट् सम्यग्राजनशील, वयमुपासका विश्ववेदसं सर्वज्ञम्। विश्वं वेदो धनं ज्ञानं वा यस्येति वा। वेद इति धननाम (निघ० २।१०।४) विद्लृ लाभे। असुन्। सर्वधनप्रदातारं सर्वधनस्वामिनं वा। अस्मभ्यमुपासकेभ्यो वसुवित्तमं वसूनि वेदयते लम्भयत इति वसुवित्। अतिशयेन वसुविद्वसुवित्तमः। तम्। अतिशयेन वसूनां ज्ञानादीनां लम्भयितारम्। ईदृशं त्वां परमेश्वरम्। अगन्म आगताः स्मस्त्वां शरणमुपेताः स्मः। अतोस्मभ्यं शरणागतेभ्यः। अभि अभितः। द्युम्नं धनं यशोन्नं वा। द्युम्नमिति धननामसु पठितं (निघ० २।१०।१३ ; ४।२।३३)। आयच्छस्व सर्वथा प्रदेहि। एवं सहो बलम्। सह इति बलनाम (निघ० २।९।१७) षह

धातुरभिभवार्थश्छान्दसः । सहत्यनेन सहते वानेन शत्रून्कामादीनिति सहः । आसमन्ताद् यच्छस्व यच्छेति ॥३८॥

भावार्थ–हे परमेश्वर, हम उपासक, सर्वज्ञ, ज्ञानादिके प्रदाता आपके शरणमें आये हुए हैं । हम शरणागतोंको ज्ञान और यशकी प्राप्ति करावें । एवं कामादि शत्रुओंको पराजित करनेकी शक्ति दें ॥३८॥

अयमग्निर्गृहपतिर्गार्हपत्यः प्रजाया वसुवित्तमः ।
अग्ने गृहपतेऽभि द्युम्नमभि सह आयच्छस्व ॥३९॥

आसुरिर्ऋषिः । भुरिग् बृहती छन्दः ।

अग्निः प्रकाशशीलः परमात्मा गृहपतिर्गृहस्वामी । गृह्यते परमात्मा येन यत्र वा तद्गृहमन्तःकरणम् । अन्तरेव परमात्मा गृह्यते । अतः सोन्तःकरणस्वामी । स एवाग्निर्गार्हपत्योपि । गृहपतेरनुकम्प्यो गार्हपत्य उपासको जीवः । गृहपतिः परमात्मा । तदुपासको जीवो गार्हपत्यः । उपास्योपासकयोरभेदं स्वीकृत्येयमुक्तिः । हे गृहपते परमात्मन्नन्तःकरणस्वामिन् । अयं गार्हपत्यः । प्रजायाः सर्वेषां मनुष्याणाम् । वसुवित्तमो भवतु । ज्ञानधनज्ञातृतमो भवतु । अतिशयेन ज्ञानवान् भवत्वित्यर्थः । धनवाचकोयं वसुशब्दो ज्ञानमाह । हे गृहपतेन्तःकरणस्वामिन्नग्ने परमात्मन् । द्युम्नं तेजो यशो वा । द्युम्नं द्योततेर्यशो वान्नं वा (निघ० ५।५) । अभि अभितः सर्वतः आयच्छस्व प्रदेहि । न केवलं यशः किन्तु । सहो बलं शारीरमान्तरं चापि अभि आयच्छस्व समन्ताद् देहीति भग-

वदुपासकस्याभ्यर्थना ॥३९॥

भावार्थ–परमात्मा अन्तःकरणका स्वामी है। उसी परमात्माका जीव दयापात्र है। जीव प्रार्थना करता है कि हे मेरे स्वामिन् यह गार्हपत्य=जीव सब जोवोंको ज्ञानका दाता बने, ऐसी आप कृपा करें। हे परमेश्वर, तुम सर्व प्रकारसे मुझे यश और आत्मिक तथा शारिक बल दो जिससे कि मैं अपने आदर्श कार्यमें सफल बनूं ॥३९॥

अयमग्निः पुरीष्यो रयिमान्पुष्टिवर्धनः। अग्ने पुरीष्याभिद्युम्नमभि सह आयच्छस्व ॥४०॥

आसुरिर्ऋषिः। निचृदनुष्टुप् छन्दः।

अयमग्निः प्रकाशस्वरूपः परमेश्वरः पुरीष्यः। पुरि हृदये मनसि च। पूर्यते परात्मानन्देन या सा पूः। तस्यास्तस्यां वैष्य एष्टव्य प्राप्तव्यो वा। इष इच्छायाम्। इष गतौ। अथवा पॄ पालनपूरणयोः। "शॄपॄभ्यां किच्च" (उ० ४।२७) इतीषन्प्रत्ययः। पिपर्ति सर्वं जगदिति पुरीषः। पुरीष एव पुरीष्यः। स्वार्थे यत्–श्रौतः। रयिमान्सुबुद्धिमान्। सुबुद्धिप्रदाता वा। पुष्टिवर्धनः सद्वृत्तिवर्धकः। हे अग्ने हे पुरीष्येत्यादिव्याख्यातप्रायम् ॥४०॥

भावार्थ–यह प्रकाशस्वरूप परमेश्वर हृदयमें स्थापित करने योग्य है। वह परमज्ञानी और सद्बुद्धिका दाता है। वही सदवृत्तियोंका बढानेवाला भी है ॥४०॥

गृहा मा बिभीत मा वेपध्वमूर्जं बिभ्रत एमसि। ऊर्जं बिभ्रद्वः सुमनाः सुमेधा गृहानैमि मनसा मोदमानः ॥४१॥

आसुरिर्ऋषिः। आर्षी पङ्क्तिश्छन्दः।

हे गृहा गृहवासिनो जनाः। गृहशब्देन तात्स्थ्याद्गृहवासिनो गृह्यन्ते। मा बिभीत मा भयं कुर्त। मा वेपध्वं मा कम्पध्वम्। ऊर्जं बलं शारीरिकं शारीरक च। बिभ्रत धारयत पुष्णीत वा। एमसि एम आगच्छामो युष्माकं संनिधौ। आचार्यस्य धैर्योत्पादनोक्तिरियम्। पुनः कथयति—वो युष्माकं शिष्याणां कल्याणाय बलप्रदानाय च, ऊर्जं बलं बिभ्रद्धारयन्। सुमनाः प्रसन्नमनाः। सुमेधाः सुधनः। धने सौष्ठवं च दयादानवात्सल्यादिरूपम्। मेधेति धननाम (निघ० २।११।२२)। मनसा चेतसा। मोदमानः प्रसीदन्, युष्माकं सदाचारेण। एमि। कल्याणमार्गशिक्षणार्थं युष्माकं गृहेषु मनसि बुद्धौ चित्ते च प्राप्नोमीति सदाचार्योक्तिरियम्।

भावार्थ—हे गृहवासी लोको, मत डरो, मत कांपो। शारीरिक और मानसिक बलको धारण करो। तुम लोगोंके कल्याण के लिये आत्मिक-बल प्रदानके लिये प्रसन्नमनवाला होकर, दया-दान-वात्सल्यादि धनयुक्त होकर तुम्हारे पास मैं आता हूँ। यह शिष्योंके प्रति आचार्यका वचन है ॥४१॥

येषामध्येति प्रवसन्येषु सौमनसो बहुः। गृहानुपह्वयामहे ते नो जानन्तु जानतः ॥४२॥

शंयुर्ऋषिः । अनुष्टुप् छन्दः ।

प्रवसन् कार्येण प्रवासं कुर्वन्तो वयम् । बहुत्वार्थ एकवचनम् । येषां शिष्याणाम् । अध्येत्यधीमः स्मरामो याञ्छिष्यानिति । अधीगर्थ० (पा० २।३।५२) इति षष्ठी । पुरुषव्यत्ययश्छान्दसः । येषु च बहुरधिकः सौमनसः सुमनसो भावः । प्रीत्यतिशयः । तान् गृहान् गृह आचार्यगृहे स्थिताञ्छिष्यान् । उपह्वयामह आह्वयामो मनसा चिन्तयाम इति भावः । ते शिष्या गुरुकुलस्थाः । जानतस्तान्स्मरत इति भावः । नोस्माञ्जानन्तु स्मरन्तु । । यथा वयमाचार्याः सदा तान् गुरुकुलाद्बहिर्गतान् दूरस्थानपि स्मरामस्तेषां कल्याणाय तथा तेपि स्वकल्याणसाधनायास्मान् स्मरन्त्वित्याशयः । शिष्याचार्ययोः सद्भावः पारस्परिको द्योतितोत्र । समानधर्मा हि प्रीतिर्भवतीतिभावः ॥४२॥

भावार्थ–किसी कार्यसे आचार्य आश्रमसे बाहर जाकर अपने शिष्योंका स्मरण करते हैं और कहते हैं कि जैसे मैं गुरुकुलस्थ अपने शिष्योंका स्मरण करता हूँ वैसे ही वे मेरा स्मरण करें अथवा करते हैं ॥४२॥

उपहूता इह गाव उपहूता अजावयः। अथो अन्नस्य कीलाल उपहूतो गृहेषु नः। क्षेमाय वः शान्त्यै प्रपद्ये शिवꣳ शग्मꣳ शंयोः शंयोः ॥४३॥

शंयुर्बार्हस्पत्य ऋषिः । भुरिग् जगती छन्दः ।

उपहूता आनीता हृदये स्थापिता इत्यर्थः । गावो वेदाः ।

उपहूता अजा अवयश्च । इहास्मिन्स्थाने स्थिता भवन्तु । अजन्ति गच्छन्ति प्राप्नुवन्ति ये जनानुपदेश्यांस्तेऽजा महात्मानो विद्वांसः । अवयश्च रक्षितारो ज्ञानदानेन सदाचारशिक्षणेन वा । तेपि सर्वेत्रोपहूता आनीताः । अथो किं च । नोस्माकं गृहेषु गुरुगृहेषु । अन्नस्य प्राणनशक्तेर्जीवनशक्तेः । आनयति प्राणयतीत्यन्नं जीवनशक्तिः । तस्याः कीलालः । कीलो बन्धनम् । कील बन्धने । तस्यालो निवारकः । अल भूषणपर्याप्तिवारणेषु । जीवनशक्तिबाधकबाधक इति यावत् । उपहूतः आहूतः सँस्तिष्ठतु । हे वेदाः, हे कीलाला विद्वांसः क्षेमाय शान्त्यै च । वो युष्मान् । प्रपद्ये प्राप्नुमः । शंयोः सुखकामस्य सुखकामानामस्माकमित्यर्थः । शिवं ब्रह्म भवतु ब्रह्मप्राप्तिर्भवतु । शंयोरस्माकं शग्मं सुखं ततो भवतु । शग्ममिति सुखनाम (निघ० ३।७।१२) । शं शब्द उपपदे गेहे क इति कः । गमहनेत्युपधालोपः । पृषोदरादित्वाच्छमो मलोपः । दुष्कृतादिशमनेन लभ्यत इति सुखम् ॥४३॥

भावार्थ–कोई पवित्र गृहस्थ या गुरुकुलस्थ ब्रह्मचारी कामना करते हैं कि हमारे हृदयमें वेद स्थापित हों, महात्मा और ज्ञान तथा सदाचारके शिक्षक विद्वान् यहां उपस्थित हों । तथा हमारे गुरुकुलमें जीवनशक्तिका नाश करनेवालोंके नाशक विद्वान् आकर निवास करें । हे वेदभगवान् और हे वेद-विद्वानो, हम तुम्हारी शरणमें आ गये हैं । सुखकी, शान्तिकी इच्छावाले हम लोगोंको ब्रह्मप्राप्ति हो और उससे परमानन्दकी प्राप्ति हो ।

प्रघासिनो हवामहे मरुतश्च रिशादसः। कर-
म्भेण सजोषसः ॥४४॥

प्रजापतिर्ऋषिः। गायत्री छन्दः।

प्रघासः प्रकर्षेण घस्यते भक्ष्यते नाश्यतेऽज्ञानं येनेति प्रघासो ज्ञानम्। प्रघासोऽस्ति येषां ते प्रघासिनो ज्ञानिन स्तान्। रिशादसो रिशां हिंसां दस्यन्त्युपक्षयन्ति नाशयन्तीति रिशादसस्तान्। क्विप्। करम्भेण सुखोत्पादकेन विदुषा महात्मना वा। कं सुखं रम्भयति प्रकटयतीति करम्भः। सजोषसः समानप्रीतान् समानप्रीतीन्वा। मरुतो देवान् महात्मनः। "मरुतो मितराविणो वा मितरोचिनो वा महद्द्रवन्तीतिवा" इति निरुक्तम् (११। १३)। "मृ धातोर्मृग्रोरुतिः" इत्युतिः (उ. १।९४) प्रत्ययः। हवामह आह्वयामः ॥४४॥

भावार्थ–हम उपासक अज्ञानके विनाशक, हिंसाके निवारक, सुखोत्पादक, विद्वानोंके साथ प्रेम करनेवाले महात्माओं का आह्वान करते हैं ॥४४॥

यद्ग्रामे यदरण्ये यत्सभायां यदिन्द्रिये। यदेन-
श्चकृमा वयमिदं तदव यजामहे स्वाहा ॥४५॥

प्रजापतिर्ऋषिः। स्वराडनुष्टुप् छन्दः।

ग्रामेरण्ये सभायांचेन्द्रिय इन्द्रियाण्याश्रित्य यदेनः पापं चकृमाचरितवन्तो वयं तदिदं स्वाहा सुष्ठु समन्तात्त्यागेनावयजामहे विनाशयामः। अवपूर्वो यजिर्नाशनार्थः ॥४५॥

भावार्थ—उपासक कहते हैं कि इन्द्रियोंके द्वारा ग्राममें, या जङ्गलमें या सभामें हमने जो कोई पाप किया हो उसको सर्वथा छोड़ते हैं-उसका नाश करते हैं ॥४५॥

मो षू ण इन्द्रात्र पृत्सु देवैरस्ति हि ष्मा ते शुष्मिन्नवयाः। महश्चिद्यस्य मीढुषो यव्या हविष्मतो मरुतो वन्दते गीः ॥४६॥

अगस्त्य ऋषिः । भुरिक् पङ्क्तिश्छन्दः । विराडिति महीधरः ।

अत्र जगति हे इन्द्र परमैश्वर्य, हे शुष्मिन् बलवन् । शुष्मेति बलनाम (निघ० २।९।११)। हे अवया अवनमवो रक्षणम् । तद्यजति ददातीत्यवया रक्षणकर्तः । संबद्धौ रूपम् । "अवया श्वेतवाः पुरोडाश्च" (पा० ८।२।६७) इति विजन्तो निपातः सम्बुद्धौ। अवे यज इति ण्विनि कृते श्वेतवहादीनां डस्पदस्येति डस्प्रत्यये निपातान्येतानि । किमर्थं तर्हि निपातनं यावता पूर्वेणैव रुः सिद्धो दीर्घत्वमप्यत्वसन्तस्य चाधातोरिति । सम्बुद्धौ दीर्घार्थमेते निपात्यन्ते । अत्वसन्तस्य चाधातोरित्यत्र हि असम्बुद्धाविति वर्तते । इति काशिकास्मिन्नेव सूत्रे । "ननु च दीर्घत्वमप्येषामत्वसन्तस्य चाधातोरित्येव सिद्धमित्यत आह अत्वसन्तस्य चेत्यादि । तत्र हि सर्वनामस्थाने चासम्बुद्धावित्यतो सम्बुद्धा वित्येतदनुवर्तते । तेन सम्बुद्धौ दीर्घत्वं न प्राप्नोतीति तदर्थमेते निपात्यन्त" इति न्यासकारः । अथवा अवयुत्य यजति रक्षतीति तत्सबुद्धावया इति । उभयथा रक्षणकर्तरित्येवार्थः ।

देवैरिन्द्रियैः । इन्द्रियार्थैश्च । यद्यपि सकृदुच्चरितः शब्दः सकृदेवार्थं गमयति तथापि च्छान्दसत्वादिह नायं न्यायः प्रवर्तते । अथवार्थसामञ्जस्याद्देवैरितिपदस्यावृत्तिर्न प्रत्यवायापादिका । सह साकम् । प्रवर्तमानेषु पृत्सु युद्धेषु । नोस्माकम् । मो सु मा सुखेन । पराजयो भवत्विति शेषः । सुखेन पराजयो मा भवत्वित्यनेन दुःखेन यथाकथञ्चिद्वा पराजयो भवत्विति नाकाङ्क्ष्यते किन्तु स्वित्यनेन पराजयनिवारणार्थं प्रयत्नातिशयो द्योत्यते । तथास्माभिः प्रयत्नः कृतो भवेद्यथा मा भूदस्माकं कथमपि पराजय इति । अत एव शुष्मिन्निति, अवया इति च सम्बोधनपदद्वयं सार्थक्यं भजते । अथवा सुरित्येवार्थे । मैव पराजयो भवत्विति । अनेकार्था निपाता अनेकार्थान्यव्ययपदानीतिशास्त्रसामर्थ्यात्सुरेवार्थकः । अथवा 'सु' इत्यनर्थकः । "स्म" इत्यपि । न हि वेदशब्दानामानर्थक्यं कथमपि स्वीकर्तव्यमिति मते पदपूरणमर्थो निरूपणीयस्तस्येति । हे इन्द्र यस्य मीढुषो ज्ञानदानेनाभिलषितार्थप्रदानेन वा सेक्तुरुपासकानां संतर्पकस्य । मिह सेचने । हविष्मतो दानवतः । यव्याः संसर्गः । यु मिश्रणामिश्रणयोः । मिश्रणं संसर्गः । महश्चित् पूज्य एव महदेव वा । ते तस्य तव । मरुतो रूपम् । मरुदिति रूपनाम । (निघ० ३।७।१३) द्वितीयार्थे षष्ठी । गीरस्माकं वाक् वन्दते स्तौति ॥४६॥

भावार्थ–हे परमैश्वर्ययुक्त, हे बलवन्, हे रक्षक, इन्द्रियों और इन्द्रियार्थोंके साथ प्रवर्तमान युद्धमें हमारा पराजय न हो। हे परमेश्वर आप ज्ञानदानसे उपासकोंको तृप्त करनेवाले हैं

तथा दाता हैं, ऐसे आपका संसर्ग पूज्य ही है। हमारी वाणी आपके रूपकी स्तुति ही करती है ॥४६॥

अक्रन्कर्म कर्मकृतः सह वाचा मयोभुवा ।
देवेभ्यः कर्म कृत्वास्तं प्रेत सचाभुवः ॥४७॥

अगस्त्य ऋषिः । विराडनुष्टुप् छन्दः ।

कर्मकृतः शुभकर्मकृतो मानवाः । मयोभुवा मयोभावयित्र्या सुखप्रदात्र्येतियावत् । मयः सुखम् । वाचा स्तुतिरूपया । स्तुतिरूपं भगवतः अक्रन् कृतवन्तः । हे सचाभुवः सहनिवास-शीलाः । देवेभ्यः सज्जनेभ्यः । कर्म कृत्वा सम्पाद्य । अस्तं गृहम् । अस्तमिति गृहनाम (निघ.३।४।५) । गृहान् प्रेत गच्छत । सज्जनानामुपकारसम्पादनं प्रथमो धर्म इत्युपदेशाशयः ॥४७॥

भावार्थ—सत्कर्म करनेवाले मनुष्य सुखदेनेवाली स्तुतिरूप वाणीसे भगवान्‌की स्तुति करते हैं। एवं सज्जनोंकी सहायताके लिये किये गये कर्मको समाप्त करके ही घर जाते हैं। यह सबके लिये उपदेश है ॥४७॥

अवभृथ निचुम्पुण निचेरुरसि निचुम्पुणः ।
अव देवैर्देवकृतमेनोऽयासिषमव मर्त्यैर्मर्त्यकृतं पुरु-राव्णो देव रिषस्पाहि ॥४८॥

और्णवाभ ऋषिः । ब्राह्म्यनुष्टुप् छन्दः ।

हे अवभृथ सर्वैः संभृत । सर्वपालक इति वा । डु भृञ् धारणपोषणयोः । अवबिभर्तीत्यवभृथः । तत्सम्बद्धौ । "अवे

भृत्रः" (उ. २।३) इति कथन्। हे निचुम्पुण मन्दगमन। चुप मन्दायां गतौ। नितरां चोपति मन्दं गच्छतीति। उण प्रत्ययो मुमागमश्च। सम्बुद्धौ रूपम्। तस्य गतेरप्रतीतत्वात्तथोक्तम्। त्वं निचेरुर्नितरां चरणशीलः। सर्वव्यापकः। असि भवसि। अतएव निचुम्पुण इत्युच्यसे। तव गतिर्न केनापि कथमप्यवगम्यत इति भावः। देवैरिन्द्रियैः। देवकृतमिन्द्रियकृतम्। एनः पापम्। अवायासिषं दूरीकरोमि। मर्त्यैर्मनुष्यैः। मर्त्यकृतं मनुष्ययोग्यं कृतम्। कर्मेत्यनुषञ्जनीयम्। अवायासिषं दूरीकरोमि। यतस्तन्न मोक्षाधायकम्। पुरुराव्णः संसारात्। पुर्वधिकं रुवन्ति शब्दं कुर्वन्ति जीवा यस्मिन्निति तथाभूतात्संसारात्। हे देव दिव्यगुणविशिष्ट परमेश्वर। रिषो विनाशात्। पाहि रक्ष। रिष हिंसायाम् ॥४८॥

भावार्थ—हे सबके पालक, मन्दगतिवाले, परमेश्वर, तुम सदा चरणशील हो। तुम्हारी गतिको कोई नहीं जानता तथापि तुम व्यापक हो। इन्द्रियोंसे किये गये पापको भी और सामान्य मनुष्योंसे किये गये समान्य कर्मको भी मैं दूर करता हूँ क्योंकि वे मोक्षाधायक नहीं हैं। हे देव इस रुलानेवाले संसार से और विनाशसे तुम मेरी रक्षा करो ॥४८॥

पूर्णा दर्वि परापत सुपूर्णा पुनरापत। वस्नेव विक्रीणावहा इषमूर्जꣳ शतक्रतो ॥४९॥

और्णवाभ ऋषिः। अनुष्टुप् छन्दः।

हे दर्वि पापदलनशीले शुभकृते, त्वं पूर्णासि समर्थासि

पालनकर्त्री वासि । पृ पालनपूरणयोः । अतः परापतायाह्यस्मन्मनसि । न केवलं पूर्णासि सुपूर्णासि त्वत्प्राप्त्यैव सर्वेषां पूर्णत्वं भवतीति । अतः पुनरभ्यर्थये त्वमापतेति । हे शतक्रतो शतानि क्रतवः कर्माणि यस्य सः । तत्सम्बुद्धौ रूपम् । वस्ना इव मूल्येनेव । इषमभीष्टम् । ऊर्जं बलं शक्तिं वा । सदाचारादिकं वा । विक्रीणावहै विक्रीणीमह इति । वसति येन स वस्नः । "धापृवस्यज्यतिभ्यो नः" (उ. ३।६) इति न प्रत्ययः । न हि सदाचारादीनामस्ति किंचिन्मूल्यम् । तथापि यथा मूल्यदानेन किञ्चिद्वस्तु क्रीतं भवति तत्र स्वत्वं च स्थापितं भवति तथैव सदाचारदिकं सम्पाद्य तत्र स्वत्वं स्थापनीयमिति हृदयम् । अथवा विकरणव्यत्ययः । इषमूर्जं च विशेषेण कुर्मः सम्पादयामः ॥४९॥

भावार्थ–हे पवित्र कर्म, तू पूर्ण है और अतएव पालनकर्त्ता है । अतः पुनः पुनः प्रार्थना करता हूँ कि तू मेरे पास आ । हे परमेश्वर जैसे जागतिक वस्तुएं मूल्यसे प्राप्त की जाती हैं वैसे ही मैं सदाचारादि वस्तुओं को प्राप्त करूं, ऐसी कृपा करो ॥४९॥

देहि मे ददामि ते नि मे धेहि नि ते दधे ।
निहारं च हरासि मे निहारं नि हराणि ते स्वाहा ।

और्णवाभ ऋषिः । भुरिगनुष्टुप् छन्दः ।

परमात्मा जीवात्मानमादिशति—हे जीव प्रथमं त्वं मे

मह्यं तव मनो देहि मयि मनः स्थापयेतिभावः। ततः परं ते तुभ्यं ददामि तवेप्सितमिति शेषः। मे मयि। सप्तम्यर्थे चतुर्थी। निधेहि मन आदिकम्। ततस्ते त्वयि निदधेहं तवेप्सितम्। निहारमवश्यकर्तव्यं भक्त्यादिकम्। नितरां ह्रियत इति निहारः। मे मयि हरासि प्रापयसि तदा ते तुभ्यं निहारं नितरां मनोहरं वस्तु ज्ञानरूपम्। ते तुभ्यं निहराणि प्रापयामि ददामीतिभावः। ततः स्वाहा सुखेन आ हा मत्समीपमागच्छ। ओहाङ् गतौ ॥५०॥

भावार्थ–परमेश्वर जीवोंको उपदेश देता है कि हे जीवो, तुम पहले मुझमें अपना मन लगाओ तब मैं तुम्हें तुम्हारे इष्ट वस्तुओंका प्रदान करूंगा। तू जब भक्ति, प्रपत्ति आदि मुझमें करेगा तब मैं तुझे ज्ञान-सदाचारादि दूंगा और तब तू सुखसे मुझे प्राप्त होगा ॥५०॥

अक्षन्नमीमदन्त ह्यव प्रिया अधूषत। अस्तोषत स्वभानवो विप्रा नविष्ठया मती योजा न्विन्द्र ते हरी ॥५१॥

गोतम ऋषिः। विराट् पङ्क्तिश्छन्दः।

अक्षन् भुक्तवन्तो गृहीतवन्त इत्याशयः। किम्? ज्ञानमिति शेषः। के? ब्रह्मचारिणो गुरुशुश्रूषव इत्यपि शेषः। गुरोः सकाशात् सर्वा विद्या गृहीतवन्तो ब्रह्मचारिण इति तात्पर्यम्। ततः, अमीमदन्ताहृष्यन्। मदी हर्षे। अव विद्यामवगत्य। उपसर्गबलाद्योग्यक्रियाध्याहारः। प्रियाः प्रीतियुक्ता ब्रह्म-

चारिणः। अधूषत विपक्षिणः कम्पितवन्तः। स्वभानवः स्वदीप्तियुक्ता विप्रा मेधाविनः। विप्र इति मेधाविनाम (निघ. ३।१५।२)। टुवप् बीजसन्ताने। अथवा विप क्षेपे। "ऋज्रेन्द्राग्रवज्रविप्र०" (उ. १।२७) इतिसूत्रेण रन्प्रत्ययः। इत्वम्। गुणाभावश्च निपातनात्। नविष्ठया नवतमयातिनूतनया। मती मत्या। हेतुना। सुपां सुलुगि (पा. ७।१।३९) त्यादिना तृतीयायाः पूर्वसवर्णदीर्घः। अस्तोषत अस्तूयन्त लोकैरिति-भावः। आचार्यो गुरुकुलात्प्रतिष्ठमानं प्रत्येकं शिष्यमाशीर्भिः सम्मिश्रयति—हे इन्द्र विद्यैश्वर्यसम्पन्न शिष्य। ते तव हरी अधीते ऋक्सामे। ऋक्सामे वै हरी इतियजुर्ब्राह्मणम् (४।४।३६)। नु क्षिप्रम्। नु इति क्षिप्रनाम (निघ. २।१५।१)। योज प्रजाकल्याणसम्पादनाय तयोरुपयोगं कुर्विति ॥५१॥

भावार्थ—गुरुचरणोंमें वैठकर विद्याध्ययन करनेवाले ब्रह्मचारी ज्ञान प्राप्त करते हैं प्रसन्न होते हैं, और विपक्षियोंको पराजित करते हैं। अत्यन्त प्रभावसम्पन्न विद्वान् अपनी अतिनवीन बुद्धिसे लोकमें प्रशंसा प्राप्त करते हैं। जब ब्रह्मचारी गुरुकुलसे विदा होने लगता है तब आचार्य आशीर्वाद देते हैं कि तेरे पढ़े हुए ऋग्वेद और सामवेद प्रजाकल्याणके लिये शीघ्र ही उपयुक्त हों ॥५१॥

सुसन्दृशं त्वा वयं मघवन्वन्दिषीमहि। प्र नूनं पूर्णबन्धुरः स्तुतो यासि वशाँ२ऽअनु योजा न्विन्द्र ते हरी ॥५२॥

गोतम ऋषिः। विराट् पङ्क्तिश्छन्दः।

गुरुगृहाद्गमनवेलायां गुरुगृहेवस्थिता ब्रह्मचारिणः प्रतिष्ठमानं विद्यास्नातकं वन्दन्ते—हे मघवन् विद्याधनसम्पन्न। मघेति धननाम (निघ. २।१०।१)। मंहतिर्दानकर्मा "घञर्थे क-विधानम् (वा. ३।३।५८)। परिगणनस्येह प्रायिकत्वात्क-प्रत्यये पृषोदरादित्वाद्नुनासिकस्य लोपो हकारस्य घकारश्च। दीयतेर्थिभ्यः। वयं सहाध्यायिनो ब्रह्मचारिणस्त्वा त्वां वन्दिषीमहि वन्दामहे। नूनं निश्चितमेव त्वं पूर्णबन्धुरः पूर्ण-विद्याधनस्यादाता। बन्धुरिति धननाम (निघ. २।१०।२१)। धनं चात्र विद्यारूपमेव। रलयोरैक्याद्बन्धुल इति स्थाने बन्धुर इति। ला आदाने। इत्थंभूतस्त्वं वशान् अनु इष्टान्कुटुम्बिनो लक्ष्यीकृत्य प्रयासि गच्छसि। योजेत्यादि व्याख्यातम्।।५२।।

भावार्थ–विद्यास्नातक बनकर घर जानेवाले ब्रह्मचारीको गुरुकुलस्थ ब्रह्मचारी अभिनन्दन देते हुऐ कहते हैं कि हे विद्या-धनसम्पन्न ब्रह्मचारिन्, हम सभी सहाध्यायी तुम्हारा वन्दन करते हैं। तुम विद्याको पूर्णतया ग्रहण करके घर जाते हो। पढे हुए ऋग् और सामवेदका प्रजाहितार्थ उपयोग करो।।५२

मनो न्वाह्वामहे नाराशꣳसेन स्तमेन। पितृणां च मन्मभिः।।५३।।

बन्धुर्ऋषिः। निचृद् गायत्री छन्दः।

आचार्यकुलाद्गृहं प्राप्तं ब्रह्मचारिणमुद्दिश्यायं मन्त्रः। मनो ज्ञानवन्तं ब्रह्मचारिणम्। मनु अवबोधने। मन ज्ञाने।

मनुते मन्यते इति वा मनुर्ज्ञानवान् । नाराशंसेन नराः शस्यन्ते प्रशस्यन्ते येन स नराशंसः । नराशंस एव नाराशंसः । तेन स्तोमेन स्तोत्रेण । पितृणां पूर्वजानाम् । मन्मभिर्याच्ञाभिः । अस्मद्गृहे वेदव्याख्यातारो भवन्त्विति पितृणां याच्ञाभिः । नु आह्वामहे सत्कुर्मः । स्तुतिद्योतकैः शब्दैः पितृणां च याच्ञाभिः समन्वितं नवागतं ब्रह्मचारिणं सत्कुर्म इतिभावः ॥५३॥

भावार्थ—आचार्यकुलसे प्रत्यावर्तित ब्रह्मचारीको उद्देश्य करके इस मन्त्रमें कहा गया है कि ज्ञानी ब्रह्मचारीकी हम उन शब्दोंसे स्तुति करते हैं जिनसे विद्वान् मनुष्योंकी स्तुति की जाती है अर्थात् पूर्वजोंकी यह इच्छा रहा करती है कि मेरे वंश में वेदव्याख्याता उत्पन्न होते रहें और सब उनकी स्तुति करते रहें। ऐसे वेदव्याख्याताकी हम स्तुति करते हैं ॥५३॥

आ न एतु मनः पुनः क्रत्वे दक्षाय जीवसे।
ज्योक् च सूर्यं दृशे ॥५४॥

बन्धुर्ऋषिः। विराट् गायत्री छन्दः।

यया रीत्या ब्रह्मचारिणं स्तुवन्ति जनाः सा रीतिरुच्यते-नोस्माकं मनो ज्ञानवान् ब्रह्मचारी । मनुत इति मनः । आ एतु आगच्छतु । किमर्थम् ? क्रत्वे क्रतवे यज्ञाय परोपकाराय सत्सङ्कल्पाय वा । परोपकारो यज्ञः । परोपकारं करिष्यामीति-प्रतिज्ञा संकल्पः । कथम्भूताय क्रत्वे ? दक्षाय समर्थाय परदुःख-निवारणसमर्थायेति यावत् । जीवनाय प्राणनाय । सत्येव मनसि शुद्धे जीवनं जीवनं भवति । तदेव शब्दान्तरेण वदति—

ज्योक् चिराय सूर्यं दृशे द्रष्टुम् । ब्रह्मचारी गृहमागत्य परोपकारादिसम्पादनपुरस्सरं शतमायुः प्राप्नुयादित्यभ्यर्थना । कर्माणि कुर्वन्मनुष्यः श्रान्तिमप्यनुभवति भवति चान्यमनस्कोपि । कर्मत्यागे तदा मनो निदधाति । एतत्स्थितिसम्पन्नं यं कमप्युद्दिश्यैतद्वचनमवगन्तव्यम् । कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समा इत्यादिकमनुसन्धेयम् ॥५४॥

भावार्थ–संसारसे, सांसारिक परोपकारादि कर्मोंसे उपरत किसी-मनुष्यकेलिये, (वह चाहे जिस आश्रमका हो), इस मन्त्रसे उपदेश किया गया है कि हे जीव तू पुनः परोपकारार्थ दीर्घजीवन प्राप्त करनेके लिये कर्ममें प्रवृत्त बन । कर्मत्याग वैदिकमार्ग नहीं है । इसीलिये कुर्वन्नेवेह कर्माणि इस मन्त्रसे सौ वर्षोंतक कर्म-पवित्र कर्म-परोपकारादि कर्म करते हुए ही शतायुकी अभ्यर्थना की गयी है ॥५४॥

पुनर्नः पितरो मनो ददातु दैव्यो जनः । जीवं व्रातꣳ सचेमहि ॥५५॥

बन्धुर्ऋषिः । विराट् गायत्री छन्दः ।

अनादत्ताशिषो ब्रह्मचारिणो ब्रुवन्ति–हे पितरो वन्दनीया अस्मत्पालकाश्च जनाः । दैव्यो दिव्यः पवित्रो जनः । नोस्मभ्यम् । मनो ज्ञानं पवित्रां वा मननशक्तिं ददातु । येन व्रातं व्रतसम्बन्धि । जीवं जीवनम् । सचेमहि सेवेमहि । भवन्तस्तादृशमेवावबोधं ददतु येन पवित्रं जीवनं शतं वर्षाणि प्राप्नुयाम इति भावः ॥५५॥

भावार्थ—माता, पिता, आचार्य किसी भी वन्दनीय जनसे प्रार्थना इस मन्त्रसे उपदिष्ट हुई है—हे पवित्रात्मन्, हमारे मन अथवा ज्ञानको पवित्र बनाओ जिससे कि हम अपने जीवनमें उत्तम कर्म करते रहें ॥५५॥

वयꣳ सोम व्रते तव मनस्तनूषु बिभ्रतः। प्रजावन्तः सचेमहि ॥५६॥

बन्धुर्ऋषिः। गायत्री छन्दः।

गृहं प्रविशन्तो व्रतस्नातका आहुः—हे सोम सम्बन्धिन्। वयं तव व्रते कर्मणि सुखाहारके। "व्रतमिति कर्मनाम। वृणोतीति सतः" (नि. २।१३)। तनूषु शरीरेषु सन्ततिषु कुलवृद्धिषु च। मनो ध्यानं बिभ्रतो धारयन्तः। प्रजावन्तः सन्ततिमन्तः सन्तः। सचेमहि सेवेमहि सर्वानेव सम्बन्धिन इति भावः। सोमेति सम्बुद्ध्येकवचनमविवक्षितम् ॥५६॥

भावार्थ—व्रतस्नातक ब्रह्मचारी गृहप्रवेश करते हुए सङ्कल्प करते हैं कि उत्तम कर्मोंमें तथा शरीररक्षा और कुल-वृद्धिमें ध्यान देते हुए हम अपने सभी सम्बन्धियोंकी-पिता-माता भाई आदिकी रक्षा करेंगे ॥५६॥

एष ते रुद्र भागः सह स्वस्राम्बिकया तं जुषस्व स्वाहैष ते रुद्र भाग आखुस्ते पशुः ॥५७॥

बन्धुर्ऋषिः। निचृदनुष्टुप् छन्दः।

सम्बन्धिन आशीर्वचनं वदन्ति—हे रुद्र शत्रूणां रोदयितः।

एष उपस्थितो वस्तुसमूहः। ते तव। भागोंशः। स्वस्रा भगिन्या। अम्बिकया जनन्या च सह। स्वसा सु असा स्वेषु सीदतीति वेति निरुक्तम् (११।३२)। तं भागं जुषस्व सेवस्व। हे रुद्र, एष ते तवैव भागो भजनीयः सेवनीय उपयोजनीय इति यावत्। दार्ढ्यसूचनार्थं द्विरुक्तिः। ते तव पशुर्ज्ञानम्। पश्यन्त्यवगच्छन्ति विविञ्चन्ति कृत्याकृत्यादिकं येन स पशुः। आखु. आ समन्तात्खनति विदारयति तत्त्वान्तःप्रवेशं करोतीत्याखुः। सर्वद्रष्टृ भवत्वित्याशीः ॥५७॥

भावार्थ—सम्बन्धी जन आशीर्वाद देते हैं कि हे ब्रह्मचारी अब तू गृहस्थाश्रममें रहकर शत्रुओंको दूर करता रह। घरकी सभी वस्तुएं तुम्हारे लिये हैं। मा-बहिनके साथ सब वस्तुओंका उपयोग कर। तथा तेरा ज्ञान तथ्यातथ्य आदिका निर्णय करने वाला बने ॥५७

अव रुद्रमदीमह्यव देवं त्र्यम्बकम्। यथा नो वस्यसस्करद्यथा नः श्रेयसस्करद्यथा नो व्यवसाययात् ॥५८॥

बन्धुर्ऋषिः। विराट् पङ्क्तिश्छन्दः।

रुद्रं रोदयितारं प्रजानां शत्रुमिति यावत्। अदीमहि खण्डयामो नाशयामः। दोवखण्डने। छान्दसः प्रयोगः। त्र्यम्बकं वेदविद्वांसम्। अम्ब्यन्ते शब्दयन्ते उच्चार्यन्त इत्यम्बा वेदाः। त्रीनम्बान्वेदान् कायति शब्दयत्युच्चारयत्यधीत इति तात्पर्यम्।

स त्र्यम्बकः । तं देवं दिव्यगुणयुक्तं विद्वांसम् । देवः कस्मात् ? दानाद्वा दीपनाद्वा द्योतनाद्वेत्यादि निरुक्तम् (७।१५) । अव अवाप्नुमः । अवेत्युपसर्गवशाद्योग्यक्रियाध्याहारः । यथा यतः । नोस्मान् । स त्र्यम्बको वेदविद्वान् । वस्यसो वस्तृतरान् । वसतीति वस्ता । अतिशयेन वस्ता वसीयान् । ईयसुनि कृते तृनोलोपः । वसीयसिति प्राप्त ईलोपश्छान्दसः । समूलान् बद्धमूलान्वा । करत् कुर्यात् । विकरणादिव्यत्ययः । एवम्, नोस्माकम् । श्रेयः कल्याणम् । अथवा श्रेयः श्रेयसः प्रशस्यतरान् करत् करोतु । यथा यतश्च । नोस्मान् । व्यवसाययाद् निश्चयात्मकबुद्धीन् कुर्यात् । एतादृशः पुत्रोस्माभिः शिष्यो वा प्राप्तव्यो यः शत्रूनुत्क्षिपेद्बद्धमूलनिवासांश्चास्मान् कुर्यात्, श्रेयांसि च सम्पादयेत्, निश्चयात्मकबुद्धींश्चास्मान्कुर्यादित्याशयः ॥५८॥

भावार्थ–हम प्रजाके शत्रुओंका नाश करें । वेदोंके अध्येता विद्वान्को हम प्राप्त करें जिससे कि वह हमको स्थिरनिवास बनावे और हमारे मूलको स्थिर करे । एवं वह हमारे कल्याणकी वृद्धि करे । इस मन्त्रका तात्पर्य यह है कि पिताको ऐसा पुत्र और गुरुको ऐसा शिष्य प्राप्त हो जो शत्रुओंको उखाड़कर फेंक दें, बड़ोंको स्थायी निवास दे एवम् कल्याण तथा निश्चयात्मक बुद्धि दे ॥५८॥

भेषजमसि भेषजं गवेऽश्वाय पुरुषाय भेषजम् ।
सुखं मेषाय मेष्यै ॥५९॥

बन्धुऋर्षिः । स्वराट् पङ्क्तिर्गायत्री छन्दः ।

परमेश्वरं स्तौति—हे परमेश्वर, त्वं भेषजमसि भेषज-रूपोसि । त्वन्नामस्मरणमात्रेण सर्वे रोगा दोषाश्च पलायिता भवन्ति । अतो गवेश्वाय पुरुषाय मनुष्याय च त्वं भेषजमसि भेषजरूपोसि । त्वदनुग्रहात्सर्वे नीरोगा भवन्तीत्युच्यते । मेषस्य मेष्यै च सुखकरोसीति । सर्वेषां प्राणिनां सुखं त्वत्त एव प्राप्यत इति तात्पर्यम् ॥५९॥

भावार्थ—हे परमेश्वर तुम्हारे नामसे ही सब रोग और दोष नष्ट हो जाते हैं । गाय, घोड़ा और मनुष्यके लिये तुम भेषजरूप हो । भेड़ोंके लिये ही, सबके लिये भी तुम हितकारक हो ॥५९॥

त्र्यम्बकं यजामहे सुगन्धिं पुष्टिवर्धनम् । उर्वा-रुकमिव बन्धनान्मृत्योर्मुक्षीय मामृतात् । त्र्यम्बकं यजामहे सुगन्धिं पतिवेदनम् । उर्वारुकमिव बन्धना-दितो मुक्षीय मामुतः ॥६०॥

वसिष्ठ ऋषिः । विराड् ब्राह्मी त्रिष्टुप् छन्दः ।

सुगन्धिं सुसम्बन्धं सद्भिः पुरुषैः सह सम्बद्धमितियावत् । सुखेन गम्यत इति सुगः पन्थाः । तं दधाति धारयतीति सुगन्धिः । मुमागमश्छान्दसः । सन्मार्गगन्तारमिति वा । पुष्टि-वर्धनं ज्ञानपोषयितारम् । त्र्यम्बकं त्रयाणां वेदानां विद्वांसम् । यजामहे पूजयामः । यस्मात् बन्धनात्स्वशाखात उर्वारुकमिव

फलविशेष इव। मृत्योर्मुक्षीय मुक्ता भवेम। उर्वारुकं फलविशेषः। तच्च यथा पक्वं सत् स्वशाखातो भिन्नं छिन्नं च भवति तथैव वयमपि कर्मफलाद्विमुच्य मुक्ता भवामेति। अमृतात्मोक्षाच्च मा मुक्षीय न च्युता भवेमेति। मुक्षीयेति श्रौतः प्रयोगस्तेन समीहितार्थं लभामहे। तृतीयपादे पतिवेदनमित्यस्य रक्षकं परमात्मानं वेदयितारमित्यर्थः। चतुर्थे पादे च—इतोस्मात्संसारान्मुक्षीय मुक्ता भवेम, मा अमुतः परस्माल्लोकात्। अन्यत् स्पष्टम् ॥६०॥

भावार्थ—सत्पुरुषोंके साथ सम्बद्ध, सुन्दर मार्गको धारण करनेवाले, ज्ञानका पोषण करनेवाले तीनों वेदोंके विद्वान्की हमें सेवा करनेकी इच्छा हो जिससे कि हम उनकी कृपासे मृत्युसे उस प्रकार छूट जावें जैसे उर्वारुकादि-बेर, जामुन, आम, खरबूजा आदि-फल अपने बन्धनसे छूट जाते हैं ॥६०॥

एतत्ते रुद्रावसं तेन परो मूजवतोऽतीहि। अवततधन्वा पिनाकावसः कृत्तिवासा अहिंसन्नः शिवोऽतीहि ॥६१॥

वसिष्ठ ऋषिः। पङ्क्तिश्छन्दः।

हे रुद्र दुष्टानां रोदयितः परमात्मन्, एतत्प्रसिद्धम्। ते तव। अवसं रक्षणम्। अव रक्षणे। असच् प्रत्ययः। जन्ममरणप्रबन्धात् संसाराद्रक्षणमिति तात्पर्यम्। अस्ति। तेन। सहार्थे तृतीया। तेन सहेति तात्पर्यम्। तेन रक्षणेन सह मूजवतो मूजः शब्दः। मुज मुजि शब्दार्थौ। दीर्घश्छान्दसः।

मूजोस्ति येषां ते मूजवन्तस्तान् शब्दान्कुर्वत आर्तानितिभावः। अतीहि अतिशयेन इहि प्राप्नुहि। यतस्त्वं परः पालकोसि। पृ पालनपूरणयोः। किं च त्वम् अवततधन्वा विस्तृतधान्यवानसि। धन धान्ये। अथवा विस्तृतगतिमानसि व्यापकोसीतिभावः। धविर्गत्यर्थः। पिनाकावसः पिनाकेन दण्डेनावसो रक्षकश्चासि। पापिनो दण्डयित्वा पापन्निवारयतीति स पिनाकावस इत्युच्यते। पिनाकमिति दण्डनाम (नि. ३।२१)। कृत्तिवासा यशःपरिवृतोसि। कृत्तिः कृन्ततेर्यशोन्नं वेति यास्कः (५।२२)। अथवा कृत्तिरिति गृहनाम (निघ. ३।४।१३)। गृहे गृहे वसतीति कृत्तिवासाः। सर्वव्यापक इत्यर्थः। शिवो निखिलजगदाश्रयश्चासि। शेते तिष्ठति सर्वं जगद्यस्मिन् स शिवः। अतो हे परमेश्वर नोस्मानहिंसन् अतीहि अतिशयेन प्राप्नुहि ॥६१॥

भावार्थ—हे दुष्टोंको रुलानेवाले परमेश्वर आपकी रक्षा प्रसिद्ध है। आप महागतिशील हैं अतः उस रक्षाके साथ हम दीनोंके पास आइये, क्योंकि आप सब के पालक हैं। दण्ड देकर भी आप रक्षा करते हैं। पापियोंको दण्ड देकर पापसे छुड़ाना ही रक्षा है। आप महान् यशस्वी हैं। सबके आश्रयदाता हैं। अतः आप हमारे पास आवें ही ॥६१॥

त्र्यायुषं जमदग्नेः कश्यपस्य त्र्यायुषम्।
यद्देवेषु त्र्यायुषं तन्नो अस्तु त्र्यायुषम् ॥६२॥

नारायण ऋषिः। उष्णिक् छन्दः।

हे परमात्मन्, जमदग्नेर्ज्वलदग्नेः प्रज्वलितप्रकाशस्येत्यर्थः । जमदिति ज्वलतो नामधेयम् । तव यत् त्र्यायुषं भूतभविष्यद्वर्तमानेषु त्रिषु कालेषु आयुःप्राप्तिः । अय गतौ । यच्च कश्यपस्य त्र्यायुषम् । कस । गतौ कस्तुं गन्तुं योग्यं कस्यं मोक्षस्थानं सुखस्थानं वा । तत्पाति रक्षतीति कश्यपः परमात्मा । सकारस्य शकारः सामर्थ्यात् । तस्य यत् त्र्यायुषं यच्च देवेषु विद्वत्सु परमेश्वरस्तोतृषु च त्र्यायुषं तन्नोस्माकमस्तु । यथा परमात्मा नित्यस्तथैवास्माकमपि नित्यत्वं स्यात् । यद्यपि जीवानामपि वैदिकमतेन नित्यत्वमेव, अतएव तन्नार्थ्यते किन्तु परमात्मवन्नित्यत्वमर्थ्यते । परमात्मनि यथा न भवति कर्मफलानुरूपं जन्मजरादिकं तथैवास्मास्वपि तन्मा भूदित्यभ्यर्थना ॥६२॥

भावार्थ–हे परमेश्वर, परमप्रकाशस्वरूप जिस प्रकार भूत, भविष्यत् और वर्तमान तीनों कालोंमें आपकी प्राप्ति सिद्ध है, मुक्तिस्थानके रक्षकके रूपमें भी आपकी प्राप्ति जैसे तीनों कालोंमें सिद्ध है वह त्र्यायुष हमें भी प्राप्त हो जिससे हम भी आपका अनुकरण कर सकें ॥६२॥

शिवो नामासि स्वधितिस्ते पिता नमस्ते अस्तु मा मा हिꣳसीः । निवर्त्तयाम्यायुषेऽन्नाद्याय प्रजननाय रायस्पोषाय सुप्रजास्त्वाय सुवीर्याय ॥६३॥

इति (शुक्ल) यजुर्वेदे (माध्यन्दिनसंहितायाम्)

तृतीयोध्यायः ॥३॥

नारायण ऋषिः । भुरिग् जगती छन्दः ।

आचार्यः शिष्यमुपदिशति—त्वं शिवः सुखस्वरूपोसि । शेते सर्वं सुखं यत्र स शिवः । नामा नमयति सर्वमिति नामा सर्वजगनमयितासि । सर्वेन्द्रियनमयितासीति वा । ते तव पिता पालकः । स्वधितिरस्ति । स्वयं स्वस्य धारकोस्ति । न तस्य त्वत्पालकस्य परमेश्वरस्य स्थितिः परायत्तेतिभावः । इत्थंभूताय ते तुभ्यं नमोस्तु धनधान्यादिकं सिद्धं भवतु । नम इत्यन्ननाम (निघ. २।८।२२) । उपनतं भवति कर्मवशादिति नमः । णम प्रह्वत्वे शब्दे । असुन् । मा लक्ष्मीस्ताम् । मा हिंसीर्मा नाशय । मेति द्वितीयार्थे प्रथमा । हे शिष्य निवर्तयामि त्वामायुषे । पूर्णायुर्जीवितुमित्यर्थः । अन्नाद्याय अन्नभक्षणाय । अन्नादिभक्षणेनैव पूर्णायुष्ट्वं भवति । प्रजननाय प्रकृष्टं जननं प्रजननमुत्कृष्टजन्मग्रहणायेतिभावः । पुत्रादीनामितिभावः । रायस्पोषाय रायो धनस्य विद्याया वा पोषाय पुष्टयै । सुप्रजास्त्वाय सौभाग्यशालिसन्ततित्वाय । सुवीर्याय प्रख्यातसामर्थ्याय चेति ॥६३॥

इतिसर्वतन्त्र-स्वतन्त्र-कवितार्किक-परमहंस-परिव्राजकाचार्य-

पण्डितराज-स्वामि-श्रीभगवदाचार्येण प्रणीतं

(शुक्ल) यजुर्वेदे (माध्यन्दिन-संहितायाम्)

तृतीयाध्याये

यजुः-संस्कारभाष्यम्

भावार्थ—आचार्य शिष्यको उपदेश करते हैं कि हे शिष्य तू सुखस्वरूप तथा सर्व जगत्को झुकानेवाला है। तेरा रक्षक स्वतन्त्र है। तुझे धनधान्यादि सदा सिद्ध रहें। लक्ष्मीका नाश नहीं करना—उसे बढाते रहना। तुझे पूर्ण आयुतक जीनेके लिये मैं गुरुकुलसे तेरे पितृकुलमें भेजता हूँ। सौ वर्षों तक तू जीता रह। उत्तम जन्म पुत्रादिकों को देता रह अर्थात् तेरे उत्तम पुत्रादि हों। विद्यारूप धनकी पुष्टि करना रह। अपने सामर्थ्यको बढाता रह ॥६३॥

इति सर्वतन्त्र-स्वतन्त्र-कवितार्किक-परमहंस-परिव्राजकाचार्य-

"पण्डितराज" स्वामिश्रीभगवदाचार्येण प्रणीतं

(शुक्ल) यजुर्वेदे (माध्यन्दिनसंहितायाम्)

तृतीयाध्याये यजुः-संस्कारभाष्यस्य

हिन्दीभाषया निबद्धं संक्षिप्तं रहस्यम्

—०—

अथ शुक्लयजुर्वेदे चतुर्थोऽध्यायः

एदमगन्म देवयजनं पृथिव्या यत्र देवासो अजुषन्त विश्वे। ऋक्सामाभ्याᳪ सन्तरन्तो यजुर्भी रायस्पोषेण समिषा मदेम। इमा आपः शमु मे सन्तु देवीरोषधे त्रायस्व स्वधिते मैनᳪ हिᳪसीः॥१॥

प्रजापतिर्ऋषिः। विराड् ब्राह्मी जगती छन्दः।

वयं भक्ता इदं देवयजनं देवयजनस्थानम्। अगन्म आगताः स्मः। यत्र यस्मिन्देवयजने। विश्वे देवासः सर्वे देवा विद्वांसः। अजुषन्तासेवन्त सेवन्ते वा परमात्मानमाचारमध्ययनं च। अत्र ऋक्सामाभ्यां स्तुत्या शान्त्या च। हेत्वर्थे तृतीया। सन्तरन्तः संसारं पारयन्तः। रायस्पोषेण धनधान्यविद्यादि-धनस्य पोषेण पुष्ट्या। इषा सन्मार्गगमनेन च। इष गतौ। संमदेम सम्यङ् माद्येम। इमा इमानि क्रियमाणानि। आपः कर्माणि। अप इति कर्मनाम। मे मम। शं कल्याणाय। सन्तु भवन्तु। यद्यप्यत्र "आप" इति पाठो न तु अप इति। कर्मार्थकोपः शब्दो न त्वप् शब्दः। तथापि आपोभिर्माजन-मित्यादिप्रयोगदर्शनादाप इत्यस्याप्यप्समानार्थकत्वं कर्मार्थकत्वं च। परमेश्वरमाचार्यं वा प्रार्थयते—ओषधे सर्वदुःखविनाशक। ओषं दाहं मानसं धयति पिबति विनाशयतीत्योषधिः परमात्मा

सद्गुरुर्वा। उष दाहे। त्रायस्व सन्मार्गप्रदर्शनेन संरक्ष। हे स्वधिते स्वीयभक्तावधारक। डुधाञ् धारणपोषणयोः। एनमुपस्थितं मामितिशेषः। मा हिंसीर्मा विनाशय मा जहीहीति यावत्। कृपया सन्मार्गदर्शनं कारय येन मम विनाशो मा भूदिति ॥१॥

भावार्थ—हम सब इस स्थानमें एकस्थ हुए हैं जहां सभी विद्वान् परमेश्वर, सदाचार और अध्ययनका सेवन करते हैं। यहां भगवत्स्तुतिसे तथा शान्तिसे संसारसागरको पार करते हुए, धन धान्य-विद्यादिका रक्षण करते हुए तथा सन्मार्गका अनुगमन-करते हुए हम सदा प्रसन्न रहें। किये जाते हुए हमारे कर्म हमें कल्याणप्रद बनें। हे सर्वदुःखविनाशक परमेश्वर अथवा सद्गुरो, आप सन्मार्गमें लेजाते हुए हमारी रक्षा करें। हे अपने भक्तोंके पालक, हमारा त्याग न करें ॥१॥

आपो अस्मान्मातरः शुन्धयन्तु घृतेन नो घृतप्वः पुनन्तु। विश्वꣳ हि रिप्रं प्रवहन्ति देवीरुदिदाभ्यः शुचिरा पूत एमि। दीक्षातपसोस्तनूरसि तां त्वा शिवाꣳ शग्मां परिदधे भद्रं वर्णं पुष्यन् ॥२॥

प्रजापति ऋषिः। स्वराड् ब्राह्मी त्रिष्टुप् छन्दः।

नदीं गत्वा स्नानाद्याचरतामियमुक्तिः। आपो व्याप्ता बृहत्य इत्याशयः। मातरो नद्यः। मातर इति नदीनामसु पठितम्

(निघ. १।१४।३७)। मान्ति आप आसु इति वा, मातृवल्लोकस्य रक्षाविधात्रीति वा। अस्मान्स्नानैषिणः सर्वान्। शुन्धयन्तु पावयन्तु। शुन्ध शुद्धौ। घृतप्वो घृतेन जलेन पावयित्र्यः। घृतमिति जलनाम (निघ. १।१२।१०)। घृ सेचने। क्त प्रत्ययः (उ. ३।८६)। घृतेन जलेनेमा नद्यः। नोऽस्मान्। पुनन्तु पवित्रान् कुर्वन्तु। इमा देवीर्देव्यो नद्यः। विश्वं समस्तम्। रिप्रं दोषम्। प्रवहन्ति दूरीकुर्वन्ति। हिर्निश्चयार्थकः। रपो रिप्रमितिपापनामनी भवत इति निरुक्तम् (४।२१)। शुचिः पूतश्च सन्नाभ्यो नदीभ्य उदेम्युपर्यागच्छामि। उपर्यागत्य स्नातः पुरुषः प्रार्थयते–हे नदि त्वं दीक्षातपसोस्तनूरसि। स्नात्वैव दीक्षातपसोः साध्यत्वान्नद्यास्तयोस्तनुत्वम्। भद्रं कल्याणकरम्। वर्णं रूपं धूल्यादिरहितम्। पुष्पन्धारयन्। शिवां कल्याणकरीम्। शग्मां सुखरूपाम्। तां प्रसिद्धां त्वां परिदधे सर्वथा परिदधे धारयामि सेव इत्याशयः ॥२॥

भावार्थ–ये नदियां, स्नानके लिये आये हुए हम लोगोंको पवित्र करें। एवं हमारे समस्त शारीरिक दोषोंको दूर करें। हम स्नान करके नदीसे बाहर आकर प्रार्थना करते हैं कि तुम दीक्षा और तपके साक्षात् रूप हो। हम स्नान करके पवित्र और निर्मल होकर सुखरूप और कल्याणकारी तुम्हारा स्मरण करते हैं। नदी और नदीमें स्नान करने वालोंका माहात्म्य और भाव इस मन्त्रमें वर्णित हुआ है ॥२॥

महीनां पयोसि वर्चोदा असि वर्चो मे देहि।
वृत्रस्यासि कनीनकश्चक्षुर्दाअसि चक्षुर्मे देहि ॥३॥

प्रजापतिर्ऋषिः । भुरिक् त्रिष्टुप् छन्दः ।

अनयर्चा गोदुग्धं स्तौति । हे दुग्ध त्वं महीनां गवाम् । पयो दुग्धम् । असि । अतो वर्चोदास्तेजःप्रदमसि । अतश्च वर्चस्तेजः । मे मह्यं देहि । त्वं वृत्रस्य दादिद्रचाच्छादकस्य धनस्य । वृत्रमिति धननाम (निघ. २।१०।२७) । वृणोतिराच्छादनार्थकः । कनीनकः प्रकाशकश्चासि । कनी दीप्तौ । बाहुलकादीनः । स्वार्थे कन् । चक्षुर्दा असि चक्षुर्मे देहीति । दुग्धस्तुल्या दुग्धगुणः प्रख्याप्यतेनयर्चा । गोदुग्धपानेन तेजोवृद्धिरारोग्यवृद्धिश्च भवति । बुद्धिप्रकाशोपि भवतीतिभावः ॥३॥

भावार्थ–हे गोदुग्ध तुम गायका दूध हो अतः तेजःप्रद तथा धनके प्रकाशक हो । अर्थात् गोदुग्धके द्वारा धनागम भी होता है इससे आंखका तेज भी बढ़ता है और आरोग्य भी ।

चित्पतिर्मा पुनातु वाक्पतिर्मा पुनातु देवो मा सविता पुनात्वच्छिद्रेण पवित्रेण सूर्यस्य रश्मिभिः। तस्य ते पवित्रपते पवित्रपूतस्य यत्कामः पुने तच्छकेयम् ॥४॥

ऋषिः प्रजापतिः । निचृद् ब्राह्मी पङ्क्तिश्छन्दः ।

स्पष्टार्थोयं मन्त्रः ॥४॥

भावार्थ–ज्ञान और वाणीकी स्वामिनी सरस्वती मुझे पवित्र करे। भगवान् सूर्य अपने निर्दोष किरणोंसे मुझे पवित्र करें जिस लिये मैं पवित्रता चाहता हूँ मैं उसमें सफल बनूं॥४॥

आ वो देवास ईमहे वामं प्रयत्यध्वरे। आ वो देवास आशिषो यज्ञियासो हवामहे ॥५॥

ऋषिः प्रजापतिः। निचृदार्ष्यनुष्टुप् छन्दः।

हे देवासो देवा विद्वांसः। वयम्, अध्वरे हिंसाविरहिते कर्मणि शुभकर्मणीत्यर्थः। प्रयति प्रवर्तमाने सति। वो युष्माकम्। वामं प्रशस्यमाशीर्वचनम्। वाम इति प्रशस्यनाम (निघ. ३।८।६)। वन संभक्तौ। बाहुलकान्मप्प्रत्ययः। नकारस्याकारः। किमप्युपकारकं वस्तु। आ ईमहे आयाचामहे। ईमहे इति याच्ञाकर्मसु पठितः (निघ. ३।१६।१)। हे देवासो देवाः। यज्ञियासो यज्ञसम्बन्धिनीः। आशिष आहवामहे आह्वयाम इच्छाम इतियावत्। सत्कर्मण्यस्माकं सार्वदिकी प्रवृत्तिः स्यादितीच्छाम इतिभावः॥५॥

भावार्थ–हे विद्वानो, हिंसारहित सभी शुभकर्मोंमें हम तुम्हारा आशीर्वाद चाहते हैं। हमारे सभी पवित्र कर्म पूर्ण हों, ऐसा आशीर्वाद चाहते हैं॥५॥

स्वाहा यज्ञं मनसः स्वाहोरोरन्तरिक्षात्स्वाहा द्यावापृथिवीभ्या स्वाहा वातादारभे स्वाहा ॥६॥

ऋषिः प्रजापतिः। निचृदार्ष्यनुष्टुप् छन्दः।

द्यावापृथिवी उरो अन्तरिक्ष । बृहस्पतये हविषा विधेम स्वाहा ॥७॥

ऋषिः प्रजापतिः । पूर्वार्धस्य पङ्क्तिरुत्तरार्धस्यार्षी बृहती छन्दः ।

आकूत्यै सर्वोत्कृष्टोपदेशकाय । कुङ् शब्दे । प्रयुजे जगतः प्रयोक्त्रे । युजिर् योगे । अग्नये सर्वव्यापकाय । अगि गतौ । मेधायै सर्वसद्गुणैः सह संगमयित्रे । मेधृ संगमे । मनसे सर्वावबोद्ध्रे । मनु अवबोधने । दीक्षायै सर्वोत्तमदीक्षकाय । तपसे दुष्टसंहर्त्रे । सरस्वत्यै परमात्मने । सरन्ति गच्छन्तीति जीवाः । तद्वते जीवाश्रयभूताय परमेश्वराय । पूष्णे पोषकाय सर्वेषां प्राणिनामप्राणिनां च । इत्थंभूताय विविधधर्मणे परमेश्वराय स्वाहा सुखेनाभिगमनमस्माकमस्तु । हे देवीर्दिव्य आपः, हे बृहतीः बृहदाकाशमण्डल, हे विश्वशंभुवो विश्वस्य जगतः शं कल्याणं भावयितर्वायो, हे द्यावापृथिवी द्यावापृथिव्यौ, हे उरो हे महन् सर्वाच्छदक वा, हे अन्तरिक्ष सर्वेषामन्तरीक्षणकर्तः परमात्मन्, बृहस्पतये बृहतां पत्ये तुभ्यं हविषा मनसा । हूयत इति हविः । मनोपि परमेश्वरे हूयते । विधेम धारयामः । सु आ हा सुखेन समन्तान्मां प्राप्नुहि । ओहाङ् गतौ । गतिरत्र प्राप्तिः । प्रत्येकं स्वाहा शब्दः प्रत्येकं वाक्येन सह योजनीयः ॥७॥

भावार्थ—वेदोपदेष्टा, जगत्के निर्माता, सर्वव्यापक, सर्वसद्गुणोंके दाता, सर्वज्ञ, सर्वोत्तमदीक्षादाता, दुष्टोंके संहारक, जीवोंके परमाश्रय, सबके पालक, परमेश्वरकी ओर सदा

हमारी गति हो । हे दिव्यजल, हे महान् आकाशमण्डल, हे जगत्के कल्याण करनेवाले वायुदेव, हे द्यावापृथिवी, हे सबकी अन्तः प्रवृत्तिको जाननेवाले, सबके स्वामी परमेश्वर हम तुमको मनसे धारण करते हैं-तुम्हारा सतत चिन्तन करते हैं । तुम शीघ्र मुझे प्राप्त हो ॥७॥

विश्वो देवस्य नेतुर्मर्तो वुरीत सख्यम् । विश्वो राय इषुध्यति द्युम्नं वृणीत पुष्यसे स्वाहा ॥८॥

आत्रेय ऋषिः । आर्ष्यनुष्टुप् छन्दः ।

नेतुः सत्कर्मसु । देवस्य दिव्यगुणविशिष्टस्यानन्दस्वरूपस्य वा । ईदृशस्य मनुष्यस्येतिशेषः । सख्यं साहचर्यं मैत्रीं वा । वुरीत वृणीत । यतो विश्वो जनः । रायो धनानि । इषुध्यति याचते । इषुध्यतिर्याच्ञाकर्मसु पठितः (निघ. ३।१९।१४) । द्युम्नं तेजो यशो वा वृणीत वृणीते । पुष्यसे पोषाय स्वं रक्षितुमिति भावः । सु आ हा शोभनतयात्मसमर्पणमपि करोति । अतो द्युम्नार्थमपि स्वपोषार्थमपि सज्जनस्य साहचर्यं सेवनीयमित्युपदेशार्थः ॥८॥

भावार्थ–सत्कर्मोंमें प्रवृत्ति करानेवाले, दिव्यगुणवाले, प्रसन्नचित्तवाले मनुष्यसे मैत्री करनी चाहिये । आत्मरक्षाके लिये मनुष्य सज्जनोंके सामने आत्मसमर्पण करता है ॥८॥

ऋक्सामयोः शिल्पे स्थस्ते वामारभे ते मा पातमास्य यज्ञस्योदृचः । शर्मासि शर्म मे यच्छ । नमस्ते अस्तु मा मा हिंसीः ॥९॥

आंगिरसा ऋषयः । आर्षी पङ्क्तिश्छन्दः ।

गुरुशिष्यावुद्दिश्योक्तिरियम् । युवामृक्सामयोरुभयोर्वेदयोः शिल्पे स्थः । शिल्पमिति रूपनाम (निघ. ३।७।१६) । शिष्लृ विशेषणे । ऋक्सामरूपौ स्थः । ऋक्सामोपदेशानुसरणेनोभयोस्तद्रूपत्वाख्यानम् । ते तौ । वां युवाम् । आरभ आलभे सम्यक्प्राप्नोमि । उभयोः संन्निधावागच्छामि । मा मां युवां प्राप्तम् । पातं रक्षतम् । केन साधनेन रक्षणमिष्टमित्याह—उदृच उत्कृष्टैः स्तुतस्य । ऋच स्तुतौ । अस्य यज्ञस्य दानस्य वेदविद्याया इतिशेषः । आ सर्वतो मह्यं प्रदानेनेति । अवयुत्याचार्यमेव प्रार्थयते—शर्मासि कल्याणस्वरूपोसि । अतः शर्म कल्याणम् । मे मह्यं यच्छ देहि । ते तुभ्यं नमोस्तु । मा माम् । मा हिंसीस्त्यज ॥९॥

भावार्थ—कोई विद्यानुरागी जन गुरु-शिष्यको लक्ष्य बनाकर कहता है—आप दोनोंही ऋग्वेद और सामवेदरूप ही हैं । अतः आपकी शरणमें आया हूँ । आप दोनों ही वेदविद्याके दानसे मेरी रक्षा करें । विशेषरूपसे आचार्यसे प्रार्थना करता है कि आप कल्याणस्वरूप हैं अतः मेरा कल्याण करें । मैं आपको प्रणाम करता हूँ । मेरा त्याग न करें ॥९॥

ऊर्गस्याङ्गिरस्यूर्णम्रदा ऊर्जं मयि धेहि । सोमस्य नीविरसि विष्णोः शर्मासि शर्म यजमानस्येन्द्रस्य योनिरसि सुसस्याः कृषीस्कृधि । उच्छ्रयस्व वनस्पत ऊर्ध्वो मा पाह्यꣳहस आस्य यज्ञस्योदृचः ॥१०॥

आंगिरसा ऋषयः। कृधीन्त्यस्य निचृदार्षी जगती छन्दः। उच्छ्रयस्वेत्यादौ साम्नी त्रिष्टुप् छन्दः।

कृषिमनयर्चा स्तौति। ऊर्गसि सर्वेषां बलमसि। मनुष्य-खगमृगादयः सर्व एव कृषिनिष्पन्नमन्नमाश्रित्य बलं प्राप्नुवन्तीति कृषेः साक्षाद्बलरूपता प्रतिपादिता। हे कृषे त्वमाङ्गिरसी प्रगतिशीलानामुद्योगिनामेव सम्बन्धिनी त्वमसि। अकि अगि गतौ। "अङ्गेरसिः" (उ. ५।२३६)। असिप्रत्ययस्य रुडागमः। ऊर्णम्रदा ऊर्णा इव मृद्वी चासि। अतस्त्वं मयि प्रार्थयितरि। ऊर्जं बलम्। धेहि प्रापयोत्पादय वा। सोमस्य शान्तस्य निर्धनस्येतिभावः। कृषकस्य। नीविर्निवीयते सर्वैरिति नीविः। नि उपसर्गः। वी गतिव्याप्तिप्रजनकान्त्यसनखादनेषु। भोजनसामग्र्यसि गतिर्वासि। न हि त्वां विना कृषका जीवितुमर्हन्ति। विष्णोर्जीवस्य गृहस्थाश्रमस्थस्य। विश प्रवेशने। प्रविशति गृहस्थाश्रमं स विष्णुः। शर्मासि सुखमसि। यजमानस्य यज्ञादि कर्म कुर्वाणस्य परोपकारनिरतस्य वा। शर्मासि सुखमसि सुखकृदसि। इन्द्रस्य कृषकस्य। इराशब्द उपपदे इडाशब्दे वोपपदे इलाशब्दे वोपपदे दृणातेरक्प्रत्ययान्तो निपातितः। इडां पृथिवीं दारयतीतीन्द्रः। कृषको हलेन पृथिवीं दारयत्येव। योनिरसि। सुखस्येत्यध्याहर्तव्यम्। कृषकाणां सुखस्य कारणमसि। कृषीः क्षेत्राणि। कृष्यन्ते विलिख्यन्ते इति कृषयः। तात्स्थ्यादङ्कुरितानि सस्यान्यपि कृषिशब्देनोच्यन्ते। सुसस्याः पुष्कलान्नवन्ति। कृधि कुरु। हे वनस्पते क्षेत्रोप्तोदितान्नजात। उच्छ्रयस्व

वर्धस्व । ऊर्ध्वो भव । अंहसः पापाद्दुःखात् । मा माम् । पाहि रक्ष । दुःखावसरेऽन्नेनैव रक्षा भवति । अन्नाभावे रक्षाभावो रक्षाभावे मरणमेव शरणमिति । जीवितप्रार्थनेयम् । कियत्पर्यन्तं रक्षणं प्रार्थ्यत इत्याह-अस्य यज्ञस्य गृहस्थाश्रमस्य । उदृचः उत्कृष्टस्तुतिकस्य । यावत्पर्यन्तं गृहस्थाश्रमः स्तुतियोग्यो न स्याद्धनेन धान्येनान्यैश्च वस्तुभिस्तावत्पर्यन्तं धनसमृद्धिः कर्तव्येति यावत् । आ इमं यज्ञमुदृचं यावत् । आङिति मर्यादायाम् ॥१०॥

भावार्थ—इस मन्त्रसे कृषिकी स्तुति की गयी है । हे कृषे, तू साक्षात् बलरूपा है । जो प्रगतिशील जन हैं । उद्योगी लोग हैं—तू उनकी ही बन कर रहती है । हे खेती, तू ऊन जैसी कोमल हैं अतः तू मुझमें बल-स्थापन कर । तू दीन कृषकोंकी भोजन-सामग्री है । गृहस्थाश्रमी जीवोंके लिये तू सुखरूप है । परोपकारियोंको सुखदेनेवाली है । कृषकोंके सुखका तू कारण है । हे वनस्पते, हे खेतमें बोये गये यव-गेहूं चना आदि अन्नाङ्कुर, तू बढ़, ऊंचा बन । हमें दुःख से छुड़ा । जब तक मेरा गृहस्थाश्रम सुखी न बने, प्रशंसापात्र न बने, तबतक अन्न-समृद्धि कर ॥१०॥

व्रतंकृणुताग्निर्ब्रह्माग्निर्यज्ञो वनस्पतिर्यज्ञियः । दैवीं धियं मनामहे सुमृडीकामभिष्टये वर्चोधां यज्ञवाहसꣳ सुतीर्था नो असद्वशे । ये देवा मनोजाता मनोयुजो दक्षक्रतवस्ते नोऽवन्तु ते नः पान्तु तेभ्यः स्वाहा ॥११॥

अङ्गिरस ऋषयः। व्रतमित्यादेः स्वराड् ब्राह्मी अनुष्टुप्; ये देवा इत्यादेरार्षी उष्णिक् छन्दः।

उपदिशत्याचार्यः शिष्यानन्यान्वा लोकान्—व्रतं कृणुत व्रतमिति कर्मनाम। यूयं कर्म कुरुत। कर्मसाधनानि परिगणयति—अग्निः सर्वज्ञानप्रकाशको ब्रह्म वेदः। अग्निर्लौकिकः। यज्ञः कल्याणसाधनम्। प्रख्यातो वा यज्ञः। वनस्पतिर्ज्ञानाध्यक्षः। वनु ज्ञाने। यज्ञियो यज्ञार्हो जनसमवायः। कर्मण एतानि साधनानि। एभिः साधनैर्व्रतं कुरुतेति भावः। अभिष्टयेभीष्टये मनोरथसिद्धयै। सुमृडीकामतिशयसुखकारिणीम्। दैवीं देवसम्बन्धिनीं विद्वत्सम्बन्धिनीम्। धियं बुद्धिम्। मनामहे याचामहे। मनामह इति याच्ञाकर्मसु पठितः (निघ. ३।१६। १६)। म्ना अभ्यासे। पदव्यत्ययः। पाघ्राध्मास्थाम्ने (पा. ७।३।७८) तिमनादेशः। पुनर्धियमेव विशिनष्टि—वर्चोधां तेजःपोषिकाम्। यज्ञवाहसं यज्ञनिर्वाहिकां सत्कर्मनिर्वाहिकाम्। एतादृशी धीः सुतीर्था शोभनस्तीर्थो गुरुर्यस्याः सा तथाभवन्ती। नोस्माकम्। वशे असत् अधीना भवतु। एतादृशी धीरस्माकं सिद्धा भवत्वित्याशयः। तेन किं फलं भविष्यतीत्याह—ये देवा विद्वांसः। मनोजाता मनोयोगेन जाताः। ये च मनोयुजः सम्प्रति मनो युञ्जन्ति विद्याप्राप्तये। ये च दक्षक्रतवो दृढसङ्कल्पाः श्रेष्ठकर्माणो वा। ते सर्वे। नोस्मान्। अवन्तु तर्पयन्तु वर्धयन्तु वा। अव रक्षणगतिकान्तिप्रीतितृप्त्यवगमप्रवेश-श्रवण-स्वाम्यर्थयाचनक्रियेच्छादीप्त्यवाप्त्यालिङ्गन-हिंसादानभागवृद्धिषु। ते नोस्मान् पान्तु रक्षन्तु। तेभ्यः स्वाहा

सु आ हा शोभनतया समन्ताद् हा आत्मानं जहीमः समर्पयाम इतिभावः ॥११॥

भावार्थ—आचार्य शिष्योंको उपदेश करते हैं कि तुम लोग श्रेष्ठ कर्मकरते रहो। श्रेष्ठ कर्मोंके साधन ये हैं—वेद, अग्नि, कल्याण-साधक कर्म, आचार्य, श्रद्धासम्पन्न जनसमुदाय। इन साधनोंसे कर्म करो। कर्म करनेसे मनोरथसिद्धि होगी। शिष्य कहते हैं हम तेजस्विनी, सत्कर्म करनेवाली, विद्वत्सम्बन्धी बुद्धिकी याच्ञा करते है। ऐसी बुद्धि आप जैसे महागुरुसे हमें प्राप्त हो। इससे फल यह होगा कि जो लोग मनोयोगसे विद्वान् हो चुके हैं और जो अब विद्वान् हो रहे हैं, एवं जो दृढ संकल्पवाले हैं वे सब हमें तृप्त करें और बढावें एवं हमारी रक्षा करें। हम अपनेको उन्हें समर्पित करते हैं ॥११॥

श्वात्राः पीता भवत यूयमापो अस्माकमन्तरुदरे सुशेवाः। ता अस्मभ्यमयक्ष्मा अनमीवा अनागसः स्वदन्तु देवीरमृता ऋतावृधः ॥१२॥

अङ्गिरस ऋषयः। ब्राह्मी अनुष्टुप् छन्दः।

अपः स्तौति। हे श्वात्राः सततगमनशीलाः। आश्वतन्ति गच्छन्तीतिश्वात्राः। आङ्पूर्वादतधातोः कृत्प्रत्ययः। पृषोदरादित्वेन यणादेशः सवर्णदीर्घश्च। आपः। यूयमस्माभिः पीता भवत। सततं प्रवहज्जलं निर्दोषं भवति। पश्चादस्माकमन्तरुदर उदरान्तर्भागे सुशेवाः शोभनसुखाश्च भवत। शेवमिति सुखनाम (निघ. ३।६।६)। शीङ् स्वप्ने। वन् प्रत्ययः। शीङो

ह्रस्वत्वं गुणाभावश्च। निरुक्ते तु शेव इति सुखनाम। शिष्यतेर्वकारो नामकरणोन्तस्थान्तरोपलिङ्गी विभाषितगुणः। शिवमित्यप्यस्य भवतीति (१०।१७)। ता आपः। अस्मभ्यम् अयक्ष्मा राजरोगरहिताः। अनमीवा रोगनिर्वर्तिकाः। अनागसो निर्दोषाः। ऋतावृधो गतिवर्धयित्र्यः। अमृता मरणरहिताश्चिर-स्थायिन्यः। देवीर्दिव्याः। स्वदन्त्वास्वादयन्तु पिबन्तु जना इति भावः। अनेन मन्त्रेणापां गुणाः प्रदर्शिताः॥१२॥

भावार्थ—हे सततगमनशील जल, हम तुमको पियें और तुम हमारे उदरको सुखी बनाओ। तात्पर्य यह है कि राजरोग-रहित, निर्दोष, जलका पान करना चाहिये॥१२॥

इयं ते यज्ञिया तनूरपो मुञ्चामि न प्रजाम्। अꣳहोमुचः स्वाहाकृताः पृथिवीमाविशत पृथिव्या संभव॥१३॥

अङ्गिरस ऋषयः। भुरिगार्षी पङ्क्तिश्छन्दः।

शिष्यायोपदेशः। हे शिष्य, इयं वर्तमाना। ते तव। तनूः तनुः। यज्ञिया यज्ञसम्बन्धिनी। अनया तन्वा त्वया परोपकारा-दीनि सत्कर्माण्येव सेव्यानि। यज्ञः परोपकारः। अतस्त्वयि अपः कर्माणि। मुञ्चामि स्थापयामि। त्वया कर्माण्येव सन्ति कर्तव्यानि सर्वदेत्याशयः। न प्रजां मुञ्चामि। प्रजा सन्ततिः। त्वं यदा सन्तानकामो भवेस्तदा सन्तानोत्पत्तिः कार्या। तत्र तव कामचारः। परं सत्कर्मसु प्रवृत्तिस्तु सर्वथा कार्येति मदीयाज्ञा। कर्मणि पारवश्यम्। अंहोमुचः पापमुचः पापाना-

मननुष्ठातारः। स्वाहाकृताः स्व आ हा कृताः स्वकीयत्वेन समन्तात् गम्याः प्राप्या आदरणीया वा कृताः। भवन्त्विति-शेषः। ओ हाङ् गतौ। गतिः प्राप्तिः। त्वया धर्मात्मानः सदादरणीया इति भावः। तदेव स्पष्टयितुमाह—पृथिवीमाविशतेति। पृथिवीं महतीम्। प्रतिष्ठामितिशेषः। ते आविशत आविशन्तु प्राप्नुवन्त्विति भावः। एवं कृते त्वमपि पृथिव्या महत्या प्रतिष्ठया कीर्त्या वा। संभव संयुक्तो भव। धर्मात्मनामादरेण तव प्रतिष्ठावृद्धिः स्यादित्याशयः ॥१३॥

भावार्थ—शिष्यको उपदेश इस मन्त्रसे किया गया है—हे शिष्य यह तेरा शरीर परोपकारके लिये है अतः मैं तेरे ऊपर कर्मोंके करनेका भार सौंपता हूँ; सन्ततिका भार नहीं। संतानोत्पादन तो तेरी इच्छा पर निर्भर है। परन्तु परोपकारके लिये मेरी आज्ञा है। एवं धर्मात्माओंका तू सदा आदर करते रहना। वे सदा प्रतिष्ठा पाते रहें। ऐसा करनेसे तू भी प्रतिष्ठापात्र बनेगा ॥१३॥

अग्ने त्वꣳ सुजागृहि वयꣳ सुमन्दिषीमहि।
रक्षा णो अप्रयुच्छन्प्रबुधे नः पुनस्कृधि ॥१४॥

अङ्गिरस ऋषयः। स्वराडार्ष्युष्णिक् छन्दः।

हे अग्ने आचार्य, त्वं सुजागृहि सुखेन जागरितो भवसि। सम्बोधनस्य मध्यमपुरुष एव नियतत्वाद्गुरावपि मध्यमपुरुषैकवचनप्रयोगः। तथा हि व्युत्पत्तिवादे 'त्वया भुज्यता' मित्यादिवाक्याधीनस्य चैत्रादेर्वाक्यार्थबोधस्य भोजनादिप्रवृत्तेश्च

निर्वाहा'च्चैत्र' इत्यादि प्रथमान्तपदप्रयोगोनर्थक इति पूर्वपक्षस्य—"न, सम्बोध्यतानुमापकासाधारणाभिमुख्यादिविरहे विशिष्य चैत्रत्वाद्यवच्छिन्ने युष्मत्पदशक्तिग्रहनिर्वाहस्यैव तत्प्रयोजनत्वादि" त्युत्तरम् । एवं च सम्बोध्यतावच्छेदकत्वोपलक्षितधर्मावच्छिन्न एव युष्मच्छब्दशक्तिस्वीकार इति । वयं शिष्याः सुमन्दिषीमहि सुप्ताः स्मः । मदि स्तुतिमोदमदस्वप्नकान्तिगतिषु । अतः, अप्रयुच्छन्नप्रमाद्यन् । नोस्मान् । रक्ष पालय सावधानान् कुर्वित्यर्थः । नोस्मान् । पुनर्मुहुर्मुहुः । प्रबुधे प्रबोधाय । प्रबोधनं प्रभुत् । तस्मै प्रबुधे । कृधि कुरु । अस्मानविद्यानिद्रातो जागरयेतिभाव: ॥१४॥

भावार्थ—हे आचार्य, आप जागरित रहें—सावधान रहें । हम सब अज्ञाननिद्रामें सो रहे हैं । आप हमारी रक्षा करें । हमें सदा जागरणशील बनाये रहें बनाते रहें ॥१४॥

पुनर्मनः पुनरायुर्म आगन् पुनः प्राणः पुनरात्मा म आगन् पुनश्चक्षुः पुनः श्रोत्रं म आगन् । वैश्वानरो अदब्धस्तनूपा अग्निर्नः पातु दुरितादवद्यात् ।

अङ्गिरस ऋषयः । ब्राह्मी बृहती छन्दः ।

मन इत्यादीनि सर्वाण्येव तत्त्वानि पुनः पुनर्मे मह्यमागन् आगतानि भवन्तु । सुप्तोत्थितस्याभ्यर्थना । स्वापकाले मनोनवधानतया चक्षुरादीन्द्रियाणामप्यौपरत्यम् । ततोयमभिलाषप्रकाशः । यद्यपि सुप्तिकालेपि प्राणानां नैवोपरतिस्तथापि तदवस्थायां प्राणानामप्यप्रतीतेस्तथोक्तिः । सुषुप्ता-

वहमित्यस्याप्यप्रतीतेः पुनरात्मेत्यस्य नासामञ्जस्यम्। वैश्वानरो विश्वेभ्यो नरेभ्यो हितः। अदब्धोनुपहिंसितोतिरस्कृत इतिभावः। तनूपा अस्माकं शरीरस्य पावयिता पाता वा। अग्निरग्निवत्प्रकाशकस्तत्त्वानां सर्वेषाम्। सर्वसामर्थ्य इतितात्पर्यम्। इत्थम्भूत आचार्यो भवान्। दुरिताद्दुष्कर्मणः। अवद्यात्पापाच्च। नोस्माञ्छिष्यान् पातु रक्षतु। दुरितं हस्तपादाद्यवयवैः सम्पादितं भवति, अवद्यं च मनोजिह्वासहयोगेन मिथ्याभाषणमसद्भावणं च भवतीतिदुरितावद्ययोर्विशेषः ॥१५॥

भावार्थ–सोकर उठनेके पश्चात् आत्मा इच्छा करता हैं कि मेरा मन मेरे नेत्र मेरे श्रोत्र पुनः मुझे प्राप्त हों। तात्पर्य यह है कि सब मेरे इन्द्रिय पुनः सुधर्ममें प्रवृत्त हो जायं। प्राण तो सुप्तावस्थामें भी अपना कार्य कर ही रहे थे परन्तु उस अवस्थामें मनके निष्क्रिय हो जानेसे प्राणक्रियाका भी भान जीवको नहीं हुआ करता अतः प्राणोंकी पुनरागमनकी इच्छा प्रकट की गयी है। एवम् आत्मा तो वैदिक मतमें नित्य वस्तु है वह तो सुषुप्तिकाल में भी था ही तथापि "आत्मा पुनः प्राप्त हो" इस कहनेका तात्पर्य यह है कि स्वापकालमें इन्द्रियादिके अभावसे क्रियानिरोध हो गया था, आत्मा साधनके विना कुछ कर नहीं सकता था। अब इन्द्रिय मन सब जागरित हो गये। आत्मा अब सक्रिय बन सकता है। इसी आशयको लेकर कहा कि "आत्मा पुनः आया', ॥१५॥

त्वमग्ने व्रतपा असि देव आ मर्त्येष्वा। त्वं यज्ञेष्वीड्यः। रास्वेयत्सोमा भूयो भर देवो नः सविता वसोर्दाता वस्वदात् ॥१६॥

वत्स ऋषिः। भुरिगार्षी पङ्क्तिश्छन्दः।

हे अग्ने परमात्मन्, त्वं देव आ मर्त्येषु आ देवे देवेषु विद्वत्सु मर्त्येषु साधारणमनुष्येषु च। अेति समुच्चयार्थकम्। व्रतपा व्रतरक्षकोसि। व्रतं कर्म सत्कर्मेति यावत्। किं च त्वं यज्ञेषु देवेषु। यज देव-पूजा-संगतिकरणदानेषु। विद्वत्सु। ईड्यः स्तुत्यः। हे सोम परमात्मन्, इयत् एतद् देहि। एतत् किम्? यस्य व्रतस्य त्वं रक्षकोसि तद्व्रतं देहीति। किं च हे सोम शान्तस्वरूप, भूयः पुनः पुनः। भर पालयास्मान्। धारय पुषाण वा। सविता ज्ञानोत्पादयिता सदाचार्यः। वसोर्धनस्य ज्ञानरूपस्य। दाता शिक्षकः। वसु ज्ञानधनम्। नोस्मभ्यम्। अदात् ददातु। लुङविवक्षितः ॥१६॥

भावार्थ—हे परमेश्वर, तुम विद्वानों तथा साधारण मनुष्योंमें रहे हुए सत्कर्मोंकी सद्भावनाके रक्षक हो। विद्वानों में स्तुत्य हो। तुम जिन सत्कर्मोंकी रक्षा करते हो उन सत्कर्मोंको मुझे दो। हे शान्तस्वरूप, तुम हमारी रक्षा करो। हमें महान् आचार्यकी प्राप्ति हो जो हमें ज्ञानरूप धन सदा देता रहे ॥१६॥

एषा ते शुक्र तनूरेतद्वर्चस्तया संभव भ्राजं गच्छ। जूरसि धृता मनसा जुष्टा विष्णवे ॥१७॥

वत्स ऋषिः । आर्ची त्रिष्टुप् छन्दः ।

हे शुक्र देदीप्यमान आचार्य । शुच दीप्तौ । ऋज्वेन्द्राग्र-वज्र० (उ. २।२७) इत्यादिना धातोः ककारान्तादेशो रप्रत्ययो गुणाभावश्च निपात्यते । एषा पुरो वर्तमाना । तनुर्ममेतिशेषः । एतन्मम शरीरमित्यर्थः । ते तव तवैवेति । एतत्पुरो दृश्यमानं वर्चस्तेजस्तव विद्यते । तया तेन वर्चसा संभव संभावय मामिति शेषः । भ्राजं दीप्तिं गच्छ प्राप्नुहि । तव प्रकाशमनुसरेतिभावः । अन्येभ्यो ज्ञानदानमेव प्रकाशानुसरणम् । हे आचार्य, त्वं जूरसि जीवयितासि ज्ञानदानेन प्रतिष्ठापयितासि । ज्ञानमन्तरेण मनुष्या मृता एवेति । त्वं मनसा हृदयेन धृता धृतो जुष्टा जुष्टः सेवितश्चासि । धृतेत्यादौ स्त्रीत्वं वेदस्वातन्त्र्यफलम् । किमर्थं धृतः सेवितश्चासि ? विष्णवे यज्ञाय ज्ञानरूपाय । विष्णु-रितियज्ञनाम (निघ. ३।१७।१२) । यजिश्च देवार्थः । देवः कस्मात् ? दानाद्वा दीपनाद्वा द्योतनाद्वेति यास्कः । एवं च यज्ञायेत्यस्य दीपनरूपाय द्योतनरूपाय वा । ज्ञानरूपायेत्येव । ज्ञानाय सेवितोसीति परमार्थः । जूरित्यादौ स्त्रीत्वमकिञ्चि-त्करम् ॥१७॥

भावार्थ–हे आचार्य आपके सामने उपस्थित यह मेरा शरीर आपका ही है । तथा आपका यह तेज सामने चमक रहा है । आप अपने तेजको संभालें और यह तेज, यह ज्ञान मुझे दें । आप ज्ञानदानसे मुझे जीवित करें । मैं आपका मन और हृदयसे स्मरण करता हूँ । आप ज्ञानस्वरूप हैं ॥१७॥

तस्यास्ते सत्यसवसः प्रसवे तन्वो यन्त्रमशीय स्वाहा। शुक्रमसि चन्द्रमस्यमृतमसि वैश्वदेवमसि।

वत्स ऋषिः। स्वराडार्षी बृहती छन्दः।

तस्या जूरसि धृता मनसा जुष्टेत्याद्युक्तायाः। सत्यसवसः सत्यज्ञानोत्पादकस्य। ते तव गुरोः। प्रसवेनुज्ञायां वर्तमानोहम्। तन्वः शरीरस्य ममेत्येव। यन्त्रं नियन्त्रणम्। आशीय प्राप्नुयाम्। तवाज्ञामनुसृत्य ब्रह्मचर्येण शरीरदार्ढ्यं मनोदार्ढ्यं च प्राप्नुयामिति भावः। अतः स्वाहा सु आ हा शोभनफलाय समन्तादात्मानं तुभ्यं समर्पयामीतिभावः। कीदृशस्त्वमसि? शुक्र दीप्तिमानसि। चन्द्रमस्याह्लादकोसि विद्ययेति शेषः। क्लीबत्वं श्रौतम्। अमृतमस्यमरणधर्मासि ज्ञानेन। वैश्वदेवमसि विश्वेषां देवानां विदुषां पूज्यश्चासि। लिङ्गमविवक्षितम् ॥१८॥

भावार्थ–हे आचार्य, मैं आपका आज्ञापालक हूँ। आपकी आज्ञाके अनुसार मैं मन और शरीरमें बल प्राप्त करूं। उत्तम फलाभिलाषाके साथ मैं आपको अपनेको समर्पित करता हूँ। आप प्रकाशस्वरूप, अमृतधर्मा और सब विद्वानोंके पूज्य हैं।

चिदसि मनोसि धीरसि दक्षिणासि क्षत्रियासि यज्ञियास्यदितिरस्युभयतःशीर्ष्णी। सा नः सुप्राची सुप्रतीच्येधि मित्रस्त्वा पदि बध्नीतां पूषाऽध्वनस्पात्विन्द्रायाध्यक्षाय ॥१९॥

वत्स ऋषिः। निचृद् ब्राह्मी पङ्क्तिश्छन्दः।

विद्या स्तूयते। हे विद्ये त्वं चिदसि चैतन्यरूपासि। मनोसि ज्ञानरूपासि। धीरसि गुरूपदेशधारणसमर्थासि। दक्षिणासि कुशलासि। क्षत्रियासि रक्षणसामर्थ्योपेतासि। यज्ञियासि सर्वधर्मकर्मयोग्यासि। अदितिरदीनाखण्डनीयासि। किं च त्वमुभयतःशीर्ष्णी उभयतः कर्मज्ञानरूपे शीर्षे यस्याः सा तथासि। सा इत्थंभूता त्वं नोस्माकं सुप्राची शोभनतया प्रागभिमुखमञ्चतीति तथाभूता। सुप्रतीची शोभनतया प्रत्यक् पश्चादञ्चतीति तथाभूता। एधि भव। मित्रः स्निग्धो जनस्त्वयि निरतः। त्वा त्वाम्। आपदि दुःखदिनेषु। बध्नीतां बध्नातु मनसा दृढं धारयतु। विद्या दुःखेपि सदा संरक्षतीत्याशयः। अथवा, "पदि त्वां बध्नीतामिति"। पदि गतौ गत्यर्थमितियावत्। गतिर्मोक्षः श्रेयो वा। त्वामाश्रयतामिति। त्वं पूषा पोषणकर्त्री सती। अध्वनो ज्ञानात्। ध्वन्यते पठ्यते शिष्यते ज्ञायते वेति ध्वन् ज्ञानम्। न ध्वन् अध्वन् अज्ञानम्। तस्मादध्वनोज्ञानादित्यर्थः। धातोरनेकार्थकत्वात्सर्वार्थसिद्धिः। पातु पाहि। प्रयोजनं दर्शयति—इन्द्र ऐश्वर्यम्। तस्य आयः प्राप्तिः। अय गतौ। तस्या अध्यक्षस्तस्मै। परमेश्वरप्राप्तयइत्यर्थः। इन्द्राय, अध्यक्षायेत्यपिच्छेदः। अर्थः स्पष्टः॥१९॥

भावार्थ—इस मन्त्रसे विद्याकी स्तुति की गयी है। हे विद्ये तू चैतन्यरूपा है, ज्ञानरूपा है, गुरुके उपदेशोंको धारण करनेमें समर्थ है, सर्वधर्मों के लिये तू योग्य है और अदीना है। ज्ञान और कर्म ये दोनों तेरे सिर हैं। ऐसी तू मेरे आगे-आगे चलने वाली एवं पीछे पीछे भी चलनेवाली बन जा। विद्याप्रेमी

जन दृढ़मन से तेरा धारण करें। तू ही पोषण करनेवाली है। तू अज्ञानसे- अविद्यासे बचा। जिससे कि मैं सर्वैश्वर्यकी प्राप्तिके मुख्यसाधन परमात्माको प्राप्त कर सकुं॥१६॥

अनु त्वा माता मन्यतामनु पिताऽनु भ्राता सगर्भ्योऽनु सखा सयूथ्यः। सा देवि देवमच्छेहीन्द्राय सोमᳪ रुद्रस्त्वावर्त्तयतु स्वस्ति सोमसखा पुनरेहि।

वत्स ऋषिः। पूर्वार्धे साम्नी जगती छन्दः। उत्तरार्धे भुरिगार्षी उष्णिक् छन्दः।

ब्रह्मचर्यव्रतपालनेच्छया गुरुकुलं प्रतिष्ठमानां ब्रह्मचारिणीं प्रत्याह सम्बन्धी कश्चित्–त्वा त्वां मातानुमन्यतां पितानुमन्यतां सगर्भ्यः सहोदरो भ्रातानुमन्यतां सयूथ्यः सवर्गीयः सखाप्यनुमन्यताम्। किमर्थम्? आचार्यकुलं प्रति गमनाय। हे देवि हे स्तुत्ये ब्रह्मचारिणि। सा त्वं सोमं शान्तम्। देवमाचार्यम्। अच्छ प्राप्तुम्। अच्छभिराप्तुमिति शाकपूणिरितिनिरुक्तम् (५।२८)। इहि गच्छ। रुद्र अज्ञानस्य रोदयिता नाशयिता आचार्यः। इन्द्राय ज्ञानैश्वर्याय ज्ञानैश्वर्यमवाप्तुमितिभावः। त्वा त्वां ब्रह्मचारिणीम्। आवर्तयतु सम्यगध्यापयतु। स्वस्ति तव कल्याणमस्तु। सोमसखा-सोमः शान्तिः सखा सहयायिनी यस्याः सा त्वं पुनर्गुरुकुलकालं समाप्य। आ इहि आगच्छ गृहमितिभावः॥२०॥

भावार्थ–कोई कन्या ब्रह्मचर्याश्रममें प्रवेश करनेकी इच्छा से गुरुकुलमें जा रही है। उसके प्रति किसीका यह वचन है–

माता, पिता, भाई, सखी आदि सभी लोग गुरुकुलमें जानेके लिये तुम्हें अनुमति दें। तू आचार्यके पास जा। अज्ञाननाशक आचार्य ज्ञानरूप ऐश्वर्यकी प्राप्तिके लिये तुझे वेदादिशास्त्र पढावें। तेरा कल्याण हो। गुरुकुलका समय बिताकर तू शांति के साथ यहां आना ॥२०॥

वस्व्यस्यदितिरस्यादित्यासि रुद्रासि चन्द्रासि।
बृहस्पतिष्ट्वा सुम्ने रम्णातु रुद्रो वसुभिराचके ॥२१॥

वत्स ऋषिः। विराडार्षी बृहती छन्दः।

गुरुकुलमुपगतां ब्रह्मचारिणीमाहाचार्यः—त्वं वस्वी असि वस्त आच्छादयत्यज्ञानं दूरीकरोतीति वा सा वसुः। "शृस्वृस्निहित्रप्यसिवसि०" (उ० १।१०) इत्युः प्रत्ययः। "छन्दसीवनिपौ च" (पा. ५।२।१२२ वा०) इतीकारः। अदितिरदीनासि। आदित्यासि तत्त्वस्यादानसमर्थासि। आङ्पूर्वाद् ददातेः (उ० ४।११२) यत्प्रत्ययः औणादिकः। अघ्न्यादिषु तत्पाठस्य कल्पनात्। दशपाद्यां तु (८।१४) इति द्रष्टव्यम्। रुद्रासि ज्ञानादीनां स्तोत्र्यसि रुद्र इति स्तोतृनाम (निघ० ३।१६।१२)। रौतेः क्विप्। मत्वर्थीयो रः। चन्द्रासि बुद्धिवैभवेनाह्लादिकासि। बृहस्पतिर्बृहतां महतां विदुषां वेदानां वा ज्ञानस्य पती रक्षको महाचार्यः। त्वा त्वाम्। सुम्ने सुखे। सुम्नमिति सुखनाम (निघ. ३।६।१६)। शोभनेन कर्मणा निमीयत इति। "रास्नासास्नासुम्न०" इत्यादि भोजसूत्रेण (२।२।१८४) निपातितम्। रम्णातु रमयतु।

विकरणव्यत्ययः। रम्णातिर्वधकर्मापि। स नात्रोपयुज्यते। रुद्रोऽध्यापकः। रवणं रुत् शब्दस्तत्प्रयुक्तं ज्ञानमिहार्थः। तद्राती ति रुद्रो गुरुराचार्या। वसुभिरन्याभिर्ब्रह्मचारिणीभिः सह त्वां पाठयितुं विनेतुं वा। वसन्ति विद्ययेति वसवो ब्रह्मचारिण्यः। "शृस्वृस्निहित्र्यप्यसिवसि० (उ. १।१०) इत्युः प्रत्ययः। आचके कामयताम्। आचके इति कान्तिकर्मसु पठितम् (निघ० २।६।११)॥२१॥

भावार्थ-गुरुकुलमें आयी हुई ब्रह्मचारिणीके लिये यह आचार्यवचन हैं-तू अज्ञानको दूर करने और ज्ञान प्राप्त करनेके लिये आयी है। तत्वज्ञान प्राप्त करनेकी तेरी इच्छा है। ज्ञानकी तू प्रशंसिका है। तेरी बुद्धि उत्तम है। इस आश्रमके महान् आचार्य तुझे सुखशान्तिमें रखें। गुरु तुझे अन्य ब्रह्मचारिणियोंके साथ पढ़ानेकी इच्छा करें॥२१॥

अदित्यास्त्वा मूर्द्धन्नाजिघर्म्मि देवयजने पृथिव्या इडायास्पदमसि घृतवत् स्वाहा। अस्मे रमस्वास्मे ते बन्धुस्त्वे रायो मे रायो मा वयꣳ रायस्पोषेण वियौष्म तोतो रायः॥२२॥

वत्स ऋषिः। ब्राह्मी पङ्क्तिश्छन्दः।

हे शिष्य, अदित्या महत्याः पृथिव्या देवयजने विद्यालये। मूर्धन्-मूर्धनि तवेतिशेषः। त्वा त्वाम् आजिघर्मि सिञ्चामि जलेनेतिशेषः। त्वमिडायाः स्तुतेः। आस्पदमसि स्थानमसि पात्रमसि। घृतवद् घृतवते दीप्तिमते। घृ क्षरणदीप्त्योः। स्वाहा

स्, आ हा सर्वथा सुखप्राप्तिः स्यात् । अस्मे अस्मासु । रमस्व सुखेन शान्त्या च तिष्ठ । अस्मे वयम् । ते तव । बन्धुः कुटुम्बिनः । त्वे त्वयि । रायो विद्याधनानि । सन्तु । के रायः ? कानि धनानि ? मे रायो मयि यानि विद्याधनानि सन्ति तानि । वयं सर्व आश्रमस्था रायस्पोषेण धनस्य पुष्टचा धनागमेनेत्यर्थः । मा वियौष्म वियुक्ता मा भूम । तो तो त एव त एव रायः सन्त्वत्याशीर्वचनम् । ते एवेत्यत्रायादेशे कृते यकारलोपे छान्दसो गुणः । सुपां सुलुगित्यादिना अस्मे इति रूपम् ॥२२॥

भावार्थ—हे शिष्य तू इस महाप्रदेशके महाविद्यालयमें निवास कर । तू स्तुतिका पात्र है जो इस विद्यालयमें अध्ययनके लिये आया । तुझे सुख-प्राप्ति हो । हमारे बीचमें सुख और शान्तिसे निवास कर । हम सब ही तेरे कुटुम्बी हैं । तुझे वह विद्याधन प्राप्त हो जो मुझमें विद्यमान है । हम विद्याध्ययनसे पूर्व अलग-अलग न हो जायं । मैं आशीर्वाद देता हूँ कि मेरा विद्याधन तेरे लिये हो ॥२२॥

समख्ये देव्या धिया सं दक्षिणयोरुचक्षसा । मा म आयुः प्र मोषीर्मो अहं तव वीरं विदेय तव देवि सन्दृशि ॥२३॥

वत्स ऋषिः । आस्तारपङ्क्तिश्छन्दः ।

आचार्यः शिष्यमाश्वासयति—हे शिष्य, देव्या दिव्यया । सन्दक्षिण्या महाकुशलिन्या । उरुचक्षसा दीर्घदर्शिन्या । धिया बुद्धचा सम् अख्ये सम्यक् ख्यामि प्रकथयामि । पदव्यत्ययश्छान्दसः । किं कथ्यते ? मे मम । आयुर्मा प्रमोषीर्व्यर्थं मा

यापय । यदहमध्यापयिष्यामि तत्त्वया सावधानेन ग्रहीतव्यमेव । अन्यथा व्यर्थमेवायुःप्रमोषः स्यात् । एवम्, अहमपि (आचार्यः) तवायुर्मा प्रमुष्णानि । अधुनाश्रमभूमिमुद्दिश्य कथ्यते–हे देवि, तव संदृशि सन्दर्शने त्वयि साक्षिभूतायां सत्यामिति यावत् । वीरं शत्रूणां प्रतिपक्षिणां दूरं क्षेप्तारमपमन्तारमित्यर्थः । लभेय प्राप्नुयाम् । अयं मे शिष्यः प्रतिपक्षिणां विजेता स्यादित्याचार्याशंसा ॥२३॥

भावार्थ–आचार्य शिष्यको आश्वासन देते हैं–हे शिष्य, दिव्य, महाचतुर दीर्घदृष्टिवाली बुद्धिसे मैं कहता हूं कि तू मेरे आयुष्यको यों ही व्यर्थमें खराब नहीं करना । जो मैं पढाऊं उसे ध्यानसे पढना और मनन करना । मैं भी तेरी आयुको नष्ट नहीं करूंगा । विद्याध्ययन-अध्यापनमें ही हम कालयापन करेंगे । अब आश्रमभूमिसे निवेदन करते हैं कि तुम्हारी पीठपर मैं इस शिष्यको प्राप्त करता हूँ । यह विजयी बने ॥२३॥

एष ते गायत्रो भाग इति मे सोमाय ब्रूतादेष ते त्रैष्टुभो भाग इति मे सोमाय ब्रूतादेष ते जागतो भाग इति मे सोमाय ब्रूताच्छन्दोनामानाᳬ साम्राज्यं गच्छेति मे सोमाय ब्रूतादास्माकोऽसि शुक्रस्ते ग्रह्यो विचितस्त्वा विचिन्वन्तु ॥२४॥

वत्स ऋषिः । पूर्वस्य ब्राह्मी जगती छन्दः । अन्त्यस्य दशाक्षरस्य याजुषी पङ्क्तिश्छन्दः ।

शिष्य आचार्यं प्रार्थयते—आचार्य, त्वं सोमाय शान्ताय । मे मह्यम् । इति ब्रूतादुपदिश । इति किम् ? एष मनसोपस्थाप्यमानः परमात्मा । ते तवोपासकस्य गायत्रः गायतीति गायः । गै शब्दे । गायं गातारं स्तोतारमितिभावः । त्रायत इति गायत्रः । स्तोतृरक्षक इति भावः । भागो भजनीयः सेवनीयः । किं च मे मह्यं सोमायेति ब्रूताद् । इति किम् ? एष परमात्मा ते तव त्रैष्टुभो भागः । ष्टुभु स्तम्भे । त्रींल्लोकान् स्तोभति स्तभ्नातीति त्रिष्टुप् परमात्मा । त्रिष्टुबेव त्रैष्टुभः । त्रिलोकीरक्षकः परमात्मा ते भागो भजनीय इत्युपदिशेति । किं च, एष ते तव जागतो भागः । जगत ईश्वरो जागतः । भागो भजनीयः । जगदीश्वरस्तव सेवनीय इति ब्रूतात् । किं च इति मे सोमाय ब्रूतात् । इति किम् ? छन्दोनामानां छन्दसाभिप्रायेण । परमात्मन इतिशेषः । नामानां नमनीयानाम् । परमेश्वरस्याभिप्रायं विदित्वा ये नमन्ति प्रह्वीभवन्ति ते छन्दोनामा उच्यन्ते । भगवद्भक्ता इति तु तात्पर्यम् । तेषां साम्राज्यं मुख्यं स्थानं सम्यग्राजमानं वा स्थानं गच्छ प्राप्नुहीति । यत्र परमेश्वरभक्ता निवसन्ति तत्स्थानं प्राप्नुहीति ब्रूयाद् । सर्वत्र ब्रूतादित्यत्र ब्रूया इति वेदितव्यम् । हेस्तातङ् । इदानीमाचार्यो ब्रूते—हे शिष्य, त्वमास्माकोसि ममैवासीतिभाव. । अतः शुक्रो दीप्यमानः परमात्मा । ते तव । ग्रह्यो ग्राह्यो भवत्वित्यर्थः । किं च विचितः परमात्मानं विचिन्वन्तीति विचितः । प्राप्तिसंलग्ना इति तात्पर्यम् । त्वा

त्वामुपासकं ब्रह्मनिष्ठम् । विचिन्वन्तु विशेषेण त्वां संगृह्णन्तु स्वेषु त्वां स्थापयन्त्वितिभावः ॥२४॥

भावार्थ–शिष्य आचार्यसे प्रार्थना करता है कि आप मुझ शान्तशिष्यको यह उपदेश करें कि मनसे संकल्पित परमात्मा तुझ उपासकका सेवनीय है । आप यह भी मुझे उपदेश करें कि तीनों लोकोंका धारण करनेवाला परमेश्वर तेरा भजनीय है । तथा यह भी कि जगन्नियन्ता परमात्मा सेवनीय है । हे आचार्य, आप यह भी मुझे उपदेश करें कि परमेश्वरके अभिप्राय को समझकर उसके सामने नत होनेवाले भगवद्भक्तोंके नित्य निवासस्थानको तू प्राप्त कर । शिष्यकी इन प्रार्थनाओंको सुनकर आचार्यने कहा–हे शिष्य, तू मेरा ही है । अतः परमात्मा तेरा ग्राह्य बने । अर्थात् तू उसका ग्रहण कर । किंच जो महाभक्त परमात्माकी प्राप्तिमें लगे हुए हैं वे तुझ ब्रह्मनिष्ठको अपने समाजमें सम्मिलित करें ॥२४॥

अभि त्यं देवꣳ सवितारमोण्योः कविक्रतुमर्चामि सत्यसवꣳ रत्नधामभि प्रियं मतिं कविम् । ऊर्ध्वा यस्याऽमतिर्भा अदिद्युतत्सवीमनि हिरण्यपाणिरमिमीत सुक्रतुः कृपा स्वः । प्रजाभ्यस्त्वा प्रजास्त्वाऽनुप्राणन्तु प्रजास्त्वमनु प्राणिहि ॥२५॥

वत्स ऋषिः । भुरिक् शक्वरी छन्दः । सुक्रतुरित्यारभ्यान्तं भुरिगार्षी गायत्री छन्दः ।

ओण्योर्द्यावापृथिव्योर्मध्ये । व्यापकमिति शेषः । ओण्यौ

इति द्यावापृथिवीनामसु पठितम्। (निघ० ३।३०।१५) ओरण् अपनयने। "सार्वधातुक इन्" (उ. ४।११४)। "कृदिकारादक्तिनः" (वा. ४।१।४५) इति ङीष्। अपनयतः सर्वेषां क्लेशानिति। कविक्रतुं कवियोग्यं क्रतुः कर्म यस्य तम्। सत्यसवं सत्यस्थितिं सत्यज्ञानं वा। रत्नधां रमणीयानां पदार्थानां धारकम्। अभि प्रियं सर्वथा प्रियं प्रियकारकं वा। मतिं मननीयम्। कविं महाविद्वांसं क्रान्तदर्शिनं वा। सवितारं जगदुत्पादकम्। देवं परमात्मानम्। अर्चामि। यस्य परमेश्वरस्य। ऊर्ध्वा श्रेष्ठा। अमतिर्बुद्धयगम्या। भा दीप्तिः। सवीमनि संसारे। सुधातोरिमनिच् (उ० ४।१४३)। अदिद्युतत्प्रकाशते। लकारव्यत्ययः। स परमात्मा सुक्रतुः सत्कर्मा। हिरण्यपाणी रमणीयसंकल्पः। हिरण्यं मनोहरः पाणिः संकल्पो यस्य सः। पण व्यवहारे स्तुतौ च। हिरण्यं हितरमणीयं भवतीति निरुक्तम्। कृपा सामर्थ्येन। स्वः सुखम्। अमिमीत निर्माति ददाति। हे परमेश्वर, प्रजाभ्यः प्रजाकल्याणायेतिभावः। त्वा त्वां प्रसादयामि। प्रजास्त्वा त्वामनुप्राणन्तु त्वां प्राप्यानुप्राणन्त्विति भावः। त्वं प्रजां अनुप्राणिहि जीवय सुखशान्तिज्ञानदानादिभिरितिभावः ।।२५।।

भावार्थ—द्यावा-पृथिवीमें अथवा इनके मध्यमें व्यापक प्रशंसायोग्य कर्म वाले सत्यज्ञानवाले सुन्दर, सभी पदार्थोंके धारक, सब प्रकारसे जीवोंका कल्याण करनेवाले, मननीय, सर्वद्रष्टा, जगदुत्पादक, परमात्माकी मैं पूजा करता हूं जिसका प्रकाश समस्त जगत्में प्रकाशित हो रहा है। वह परमात्मा

सत्कर्म करनेवाला है, उसके संकल्प सुन्दर होते हैं। अपने सामर्थ्यसे वह सबके लिये सुखदान करता है। हे परमेश्वर प्रजाओंके कल्याणके लिये मैं तुम्हें प्रसन्न करता हूं। प्रजा तुम्हारा स्मरण करे और तुम प्रजाका स्मरण करो तथा उसे सुखी रखो ॥२५॥

शुक्रं त्वा शुक्रेण क्रीणामि चन्द्रं चन्द्रेणामृतममृतेन। सग्मे ते गौरस्मे ते चन्द्राणि तपसस्तनूरसि प्रजापतेर्वर्णः परमेण पशुना क्रीयसे सहस्रपोषं पुषेयम् ॥२६॥

वत्स ऋषिः। भुरिग् ब्राह्मी पङ्क्तिश्छन्दः।

हे परमेश्वर तत्तुल्याचार्य वा। शुक्रं पवित्रं दीप्यमानं वा। त्वा त्वाम्। शुक्रेण पवित्रेणाचारेण विचारेण च। क्रीणामि वशीकरोमि। चन्द्रमाह्लादकं त्वां चन्द्रेणाह्लादकेनाचारेण विचारेण च क्रीणामि। अमृतममरणधर्माणं त्वाममृतेन चिरस्थायिना पवित्रेणाचारेण विचारेण च वशीकरोमि। सत्यप्रियो हि भगवान् सत्येन प्रीतो भवतीति वक्तव्यार्थः। ते तव। गौर्वाणी वेदरूपा। क्वचिद्गोरित्यपि पाठः। सग्मे ग्मया पृथिव्या सहिते लोके इतिशेषः। सर्वेषु लोकेष्वितिभावः। प्रसरत्वितिशेषः। गमेः "मनिन्" (उ० ४। १४०) इति सूत्रेण मनिनि बाहुलकात् टिलोपः। "डाबुभाभ्यामन्यतरस्याम्" (पा.४।१।१३) इति डापि ग्मेति सिध्यति। ग्मेति

पृथिवीनाम (निघ. १।१।२) । किं च ते तव चन्द्राणि । चदि आह्लादे । आह्लादकानि तत्त्वानि । अस्मे अस्मासु । सन्त्विति शेषः । त्वं तपसो ज्वलतस्तेजस इत्यर्थः । तनूरसि रूपमसि । तेजःस्वरूपोसीत्यर्थः । तप इति ज्वलतो नामधेयम् (निघ. १। १७।७) प्रजापतेर्गृहस्थस्य मनुष्यमात्रस्येतितात्पर्यम् । वर्णो वरणीयोसि । परमेण महता । पशुना ज्ञानिना भक्तेन वा । समानं सर्वं पश्यतीति पशुः । दृशिर् विलोचने । "अर्जिदृशि." (उ. १।२७) इति उण् । क्रीयसे वशीक्रियस इत्यर्थः । मयि तथा कृपां कुरु यथा सहस्रपोषं हस्रो हासः । प्रसाद इतिभावः । तेन सह वर्तते इति सहस्रः प्रसन्न इति भावः । पोषणं पोषः । सहस्रः प्रसन्नः पोषो यस्मिन् कर्मणि तथा पुषेयं पुष्णीयाम् । अतिरमणीयेन पोषणेन पुष्टः स्यामितिभावः ॥२६॥

भावार्थ—हे परमेश्वर अथवा हे आचार्य, पवित्र आपको मैं अपने पवित्र आचारसे, आह्लादक आपको अपने आह्लादक आचार-विचारोंसे, अमरणधर्मा को अपने चिरस्थायी पवित्र विचारों और आचारोंसे अपने वशमें करता हूँ । अर्थात् इन उपायोंसे ही सत्यस्वरूप भगवान् वशमें किये जा सकते हैं। हे प्रभो आपकी दी हुई वेदविद्या तीनों लोकोंमें फैले । हे गुरो आप तेजस्स्वरूप हैं । मनुष्यमात्रके आप वरणीय हैं । महान् ज्ञानी अथवा भक्त आपको वशमें करता है । आप मेरे ऊपर ऐसी कृपा करें कि अतिरमणीय ज्ञानपुष्टिसे मैं पुष्ट हो सकूं ।

मित्रो न एहि सुमित्रध इन्द्रस्योरुमाविश दक्षिणमुशन्नुशन्तᳪ स्योनः स्योनम्। स्वान भ्राजाङ्घारे बम्भारे हस्त सुहस्त कृशानवेते वः सोमक्रयणास्तान्रक्षध्वं मा वो दभन् ॥२७॥

वत्स ऋषिः। भुरिग् ब्राह्मी पङ्क्तिश्छन्दः।

हे परमेश्वर, मित्रः स्निग्धः। सुमित्रधः शोभनानां मित्राणां धारकः। एवंभूतस्त्वम्। नोस्मान्। एहि प्राप्नुहि। इन्द्रस्य जीवस्य उरुं ज्ञानम्। ऊर्णोत्याच्छादयत्यज्ञानमित्युरुः। तद् आविश प्रविश। अस्माकं बुद्धौ निवासं कुर्वितिभावः। कीदृशं ज्ञानम्? दक्षिणं कुशलम्। दक्षिणो हस्तो दक्षतेरुत्साह कर्मण इति निरुक्तम् (१।७)। पुनः कीदृशम्? उशन्तं त्वां कामयमानम्। पुनः कीदृशम्। स्योनं सुखदम्। स्योनमिति सुखनाम (निघ. ३।७।१५)। षिवु तन्तुसन्ताने। "सिवेष्टेर्यूट् च" इति न प्रत्ययः। गुणः। स्यतेः, अवस्यन्त्येतदिति निरुक्तम् (८।६)। कथं त्वयोरौ स्योने स्थातव्यमित्याह स्योन इति। त्वं सुखस्वरूपोस्यतः सुखस्थान एव त्वया वस्तव्यमिति-भावः। किं च त्वमुशन् कान्तिमानसि, अतोपि स्योन उरौ त्वया स्थातव्यमिति। हे स्वान स्वनति सर्वानुपदिशतीति स्वानः। तत्सम्बुद्धौ स्वानेति। हे भ्राज दीप्तिमन्। हे अङ्घारे पापारे। हे बम्भारे विश्वपोषणकर्तः। बिभर्ति विश्वमिति। हे हस्त प्रसादस्वरूप। हसतीति हस्तः। हे सुहस्त अतिशयेन प्रसादस्वरूप। हे कृशानो दीनरक्षक। कृशान् क्षीणान् दीनानिति

भावः, आनयति प्राणयतीति कृशानुस्तत्सम्बुद्धौ। एत उपस्थिताः। वो वयम्। व इत्यव्ययपदम्। सोमक्रयणाः शान्तिप्रार्थिनः। तानस्मांस्त्वं रक्षध्वं रक्ष। बहुवचनमनिष्टम्। वो युष्माकम्। अस्मान् युष्मदीयानिति तात्पर्यम्। मा दभन् मा हिंस्युर्दुर्जनाः कामादयो वा। दभ्नोतिर्हिंसाकर्मा ॥२७॥

भावार्थ–हे परमेश्वर, तुम स्निग्ध और अनेक सहृदयों को धारण करनेवाले हो अतः हमें प्राप्त हो। जीवोंके तुमको चाहनेवाले तथा सुखद ज्ञानमें-बुद्धिमें प्रवेश करो। तुम स्वयं सुखस्वरूप और कान्तिमान् हो अतः मेरे विशाल हृदयमें निवास करो। हे, प्रकाशस्वरूप, पापनाशक, विश्वपोषक, दीनरक्षक, हम सब आपकी सेवामें उपस्थित हैं। शान्ति चाहते हैं। हमारी रक्षा करो। दुर्जन आपके हम उपासकोंको हैरान न करें॥२७॥

परि माग्ने दुश्चरिताद्बाधस्वा मा सुचरिते भज।
उदायुषा स्वायुषोदस्थाममृताँ २॥ऽ अनु ॥२८॥

वत्स ऋषिः। पूर्वार्धस्य साम्नी बृहती छन्दः। उत्तरार्द्धस्य साम्नी उष्णिक्।

हे अग्ने ज्ञानस्वरूप परमेश्वर, दुश्चरिताद् दुराचारात्। मा माम्। परिबाधस्व परितो निरुन्धि। किं च, मा माम्। सुचरिते सदाचारे। भज स्थापयेतिभावः। यत उदायुषा श्रेष्ठेनायुषा श्रेष्ठकर्माचारिणायुषेत्यर्थः। स्वायुषा शोभनेन रोगदोषादिविवर्जितेनायुषा। अमृतान् देवान् विदुष इतितात्पर्यम्। विद्वांसो हि देवाः। अनु अनुसृत्य विद्वन्मार्ग-

मनुसृत्येति तात्पर्यम् । उदस्थामुत्तिष्ठाम्युत्कृष्टो भवामीति-भावः ॥२८॥

भावार्थ–हे ज्ञानस्वरूप परमेश्वर, दुराचारसे हमें बचाओ और सदाचारमें लगाओ। हम अपने पवित्र जीवनमें देवों-विद्वानों का अनुसरण करके उत्कृष्ट बनें, यह हमारी अभिलाषा है।

प्रति पन्थामपद्महि स्वस्तिगामनेहसम्। येन विश्वाः परि द्विषो वृणक्ति विन्दते वसु ॥२९॥

वत्स ऋषिः। निचृदार्षी अनुष्टुप् छन्दः।

अनेहसं निर्दोषम्। एह इति क्रोधनाम (निघ. २।१३।६)। हन हिंसागत्योः। "नञि हन एह च" (उ. ४।२१८)। क्रोधोपि दोष एव। स्वस्तिगां कल्याणानुधाविनम्। पन्थां पन्थानम्। प्रति अपद्महि प्रतिपद्यामहे। येन पथा गन्तारः। विश्वाः सर्वान्द्विषो द्वेष्टॄन्। वृणक्ति त्यजन्ति। वृजी वर्जने। वसु धनं सदाचारादिरूपम्। विदन्ते लभन्ते च ॥२९॥

भावार्थ–हे परमेश्वर हम निर्दोष और कल्याणकारी मार्गका आश्रय लें। जिस मार्गसे जानेवाले सभी अनिष्ट वस्तुओं का त्याग करते हैं तथा सदाचारादि धनको प्राप्त करते हैं।

अदित्यास्त्वगस्यदित्यै सद आसीद। अस्त-भ्नाद् द्यां वृषभो अन्तरिक्षममिमीत वरिमाणं

पृथिव्याः। आसीदद्विश्वा भुवनानि सम्राड्विश्वेत्तानि वरुणस्य व्रतानि ॥३०॥

वत्स ऋषिः। पूर्वस्य स्वराड् याजुषी त्रिष्टुप् छन्दः। अस्तभ्नादित्यन्तस्य आर्षी त्रिष्टुप् छन्दः।

हे परमेश्वर, त्वमदित्याः पृथिव्याः। त्वगसि संवारकोस्याच्छादकोसि। तत्र व्याप्तोसीतिभावः। त्वच संवरणे। अदित्यै अदीनभावाय। सदः पृथिवीम्। आसीद आसीदसि। मा भूत्पृथिव्या विनाश इति त्वं तत्र सीदसि। न केवलं पृथिवीं रक्षसि किन्तु द्यामन्तरिक्षमपि। अस्तभ्नाद्धारयसि। कथंभूतस्त्वम्? वृषभो वृषं धर्मं भापयसि प्रकाशयसि तथाभूतः। पृथिव्याः वरिमाणं श्रेष्ठत्वम्। अमिमीत जानासि। त्वं सम्राडस्यतो विश्वा सर्वाणि भुवनानि सर्वाल्लोकानित्यर्थः। आसीददासीदसि व्याप्य तिष्ठसीतिभावः। विश्वा विश्वानि। इत् एव। सर्वाण्येव वरुणस्य वरणीयस्य परमेश्वरस्य। व्रतानि कर्माणि। सर्वेषां निर्माणं रक्षणं च पारमेश्वरं कर्मेति तात्पर्यम् ॥३०॥

भावार्थ–हे परमेश्वर, आप पृथिवी और अन्य लोकोंमें भी व्याप्त हैं। अतः सब लोकोंकी आप रक्षा करें। आप धर्मके प्रकाशक हैं। आप सम्राट् हैं अतः सब लोकों पर आपका प्रभुत्व है। समस्त जगत्का निर्माण और रक्षण परमेश्वरका ही कर्म है ॥३०॥

वनेषु व्यन्तरिक्षं ततान वाजमर्वत्सु पय उस्त्रियासु। हृत्सु क्रतुं वरुणो विक्ष्वग्निं दिवि सूर्यमदधात् सोममद्रौ ॥३१॥

वत्स ऋषिः। विराडार्षी त्रिष्टुप् छन्दः।

यो वरुणो वरणीयः परमात्मा। वनेषु जलेषु। वनमिति जलनाम। अन्तरिक्षमाकाशम्। विततान विस्तारितवान्। जलेष्वाकाशस्य योग्यं प्रतिबिम्बं प्रतीयत इव। अर्वत्स्वश्वेषु। वाजं बलम्। विततान। उस्त्रियासु गोषु। पयो दुग्धं विततान। उस्त्रशब्दात्पृषोदरादित्वेन स्वार्थे घः। वसति क्षीरं यासु तासु। उस्त्रिया इति गोनाम (निघ. २।११।२)। हृत्सु हृदयेषु। क्रतुं कर्म प्रज्ञां वा विततान। क्रतुरिति कर्मनाम प्रज्ञानाम च। विक्षु मनुष्येषु। विश इति मनुष्यनाम (निघ. २।३।५)। अग्निं विततान। दिवि द्युलोके। सूर्यमदधात् स्थापितवान्। अद्रौ मेघे। अद्रिरिति मेघनाम (निघ. १।१०।१)। अद भक्षणे। औणादिकः (४।६५) क्रिन्। आदित्यरश्मयो भौमरसानाहरन्ति। मेघस्तानत्ति। सोमं महोपकारकमौषधविशेषम्। अदधात्। तं परमात्मानमुपकारस्मृत्या वयं स्तुम इतिशेषः।३१।

भावार्थ–जिस परमात्माने जलमें प्रतीयमान आकाशका, अश्वोंमें बलका, गौओंमें दुग्धका, हृदयमें प्रज्ञाका, मनुष्योंमें अग्नि अर्थात् विचार पूर्विका गतिका, द्युलोकमें सूर्यका स्थापन किया है, अनेक उपकारक ओषधियां जिसने हमें दी हैं उस

परमात्माके उपकारोंका स्मरण करके हम उसकी स्तुति करते हैं ॥३१॥

सूर्यस्य चक्षुरारोहाग्नेरक्ष्णः कनीनकम्। यत्रैतशेभिरीयसे भ्राजमानो विपश्चिता ॥३२॥

वत्स ऋषिः। निचृदार्ष्यनुष्टुप् छन्दः।

आचार्यः स्वशिष्यमुपदिशति—सूर्यस्याकाशे सरणशीलस्य। चक्षुर्लक्षणया तेज आरोह। तादृशं तेजः प्राप्नुहीत्यर्थः। एवमग्नेरक्ष्णो नेत्रस्य कनीनकमारोह। न ह्यग्नेर्नेत्रं भवति न वा तदभावे कनीनकमपि भवति। तथाप्यत्र तथानिर्देशः प्रकाशकत्वोपलक्षणार्थः। कनीनिकासद्भाव एव पदार्थदर्शनं नेत्रेण क्रियते नान्यथा। एवं चाग्नेरक्ष्णः कनीनकमारोहेत्यस्याग्निवत्प्रकाशयुक्तो भवेत्यर्थः। यत्र यस्यामवस्थायामेव। एतशेभिरश्वैः। इवेतिशेषः। एतश इत्यश्वनाम (निघ.१।१४।१०)। इण् गतौ। तशन् (उ. ३।१४५) प्रत्ययः। विपश्चिता विदुषा ज्ञानिना सह भ्राजमानो दीप्यमानः सन्। ईयसे नीयसे। आचार्यः शिष्यमुपदिशति यदा त्वं सूर्यवत्तेजस्वी भविष्यसि, अग्निवच्च प्रकाशयुक्तो भविष्यसि तदा विद्वद्भिः सह विद्वद्भिरामन्त्रितो वा वृत्तिरूपैरश्वैरितस्ततः उपदेशार्थं ज्ञानप्रसारार्थं च गमिष्यसीति ॥३२॥

भावार्थ—आचार्य शिष्यको उपदेश देता है कि तू सूर्य समान तेजस्वी बन। तेरी ज्ञानदृष्टि तीक्ष्ण बने। तब तू जैसे लोग घोड़ोंपर चढ़कर शीघ्रगामी बनते हैं ऐसे ही तू भी विद्वानोंके साथ प्रकाशयुक्त-ज्ञानयुक्त बनेगा ॥३२॥

उस्रावेतं धूर्षाहौ युज्येथामनश्रू अवीरहणौ ब्रह्मचोदनौ। स्वस्ति यजमानस्य गृहान् गच्छतम्।

वत्स ऋषिः। पूर्वस्य निचृदार्षी गायत्री छन्दः। स्वस्तीत्युत्तरस्य याजुषी जगती छन्दः।

धूर्वाहौ भारवाहौ सन्मार्गप्रचारभारवाहौ। अवीरहणौ वीराणां शत्रुनिपातसाधकानामहन्तारौ। अनश्रू नाश्रूणि ययोस्तादृशावदीनौ सोत्साहाविति भावः। युवां ब्रह्मचोदनौ वेदविद्याप्रचारकौ। उस्रौ तेजस्विनौ। वसत्यत्र परं तेजः। वस निवासे। रक् (उ. २।१२)। सम्प्रसारणं बाहुलकात्। "शासिवसिघसीनां च" (पा. ८।३।६०) इति षत्वाभावः। एतमागच्छतं विद्याशालायामिति भावः। युज्येथां ब्रह्माध्ययनाध्यापनयोः प्रवर्तेताम्। स्वस्ति युवाभ्यां गुरुशिष्याभ्याम्। यजमानस्य संगतिं विदुषां कुर्वतो जनस्य गृहान् गच्छतम्। वेदविद्याप्रचाराय गुरुशिष्याभ्यां प्रतिगृहं गन्तव्यमित्युपदेशः ॥३३॥

भावार्थ—सन्मार्गप्रचारका भार ढोनेवाले, विद्वानोंके रक्षक एवम् उत्साही तुम गुरु-शिष्य वेदविद्याप्रचारक और तेजस्वी हो। अतः विद्याशालामें आकर वेदाध्ययन और वेदाध्यापनमें प्रवृत्त बनो। तुम दोनोंका कल्याण हो। विद्वत्सङ्गाभिलाषियोंके घर जाओ और वेदोपदेश करो ॥३३॥

भद्रो मेऽसि प्रच्यवस्व भुवस्पते विश्वान्यभि धामानि। मा त्वा परिपरिणो विदन् मा त्वा परि-

पन्थिनो विदन् मा त्वा वृका अघायवो विदन्। श्येनो भूत्वा परापत यजमानस्य गृहान् गच्छ तन्नौ सꣳस्कृतम् ॥३४॥

वत्स ऋषिः। पूर्वस्य भुरिगार्ची गायत्री छन्दः। मात्वेत्यस्य भुरिगार्ची बृहती छन्दः। श्येनो भूत्वेत्यस्य विराडार्ची अनुष्टुप् छन्दः।

आचार्यः शिष्यमादिशति—त्वं मे मम। भद्रोसि कल्याणसम्पादकः शिष्योसि। हे भुवस्पते विद्यापते। भवन्ति येन विद्वांसस्तद्भुवः, ज्ञानं विद्या वा। तत्पते। विश्वानि सर्वाणि। धामानि स्थानानि। अभि अभिलक्ष्य। प्रच्यवस्व गच्छ। च्युङ् गतौ। तत्र तत्र गच्छन्तं धर्मप्रचारार्थं त्वाम्। परिपरिणो विघ्नकृद्विशेषाः। मा विदन् मा जानन्तु। परिपन्थिनोपि त्वां मा विदन्। "छन्दसि परिपन्थिपरिपरिणौ पर्यवस्थातरि" (पा. ५।२।८९) इत्येतौ निपातितौ। पर्यवस्थाता प्रतिपक्ष इत्युच्यते। निपातनं चात्र पर्यवस्थातृशब्दात्स्वार्थे इनि प्रत्ययः। अवस्थातृशब्दस्य पन्थि परि एतावादेशौ च निपात्येते। एते विघ्नकर्तारो मा भूवन्नित्याशयः। अघायवः परस्याघं दुःखं कर्तुमिच्छन्ति ते। 'छन्दसि परेच्छायामितिवक्तव्यम्' (वा० ३।१।८) इति क्यच्। "अश्वाघस्यात्" (पा० ७।४।३७) इत्याकारः। "क्याच्छन्दसि" (पा० ३।२।१७०)। इति क्यजन्तादुप्रत्ययः। वृकाः विकर्तनशीला हिंसकाः। त्वा मा विदन्। केपि दुर्जना विघ्नकर्तारो मा भूवन्नितिगुरूणामाशीर्वचनम्। श्येनः पक्षि-

विशेषो भूत्वा परापत उत्पत । दुर्जनानां दृष्टिपथं मा गच्छा-नीति श्येनवच्छलेन त्वरितगत्या गच्छेतिभावः । न ह्यत्र श्येनभवनमुक्तं भवति किन्तु श्येनवत्स्वमाच्छाद्य शीघ्रगमनमेव विवक्षितं भवति । यजमानस्य दिव्यजनस्य गृहान् गच्छेत्युप-देशार्थः । तद्दिव्यजनगृहम् । आवयोरावाभ्यामित्यर्थः । संस्कृतं कर्तव्यम् ॥३४॥

भावार्थ–आचार्य शिष्यसे कहते हैं कि तू मेरा हितेच्छु शिष्य है । तू चारों दिशाओंमें जा और धर्मप्रचार करते हुए तुझे कोई विघ्न पीड़ा न पहुंचावे । विघ्नसंतोषी और हिंसक जन भी तुझे विघ्न न करें । जैसे श्येन (बाज़) अपने आपको छिपाये रखता है और अपना लक्ष्य पकड़ता है ऐसे ही तू भी दुर्जनोंसे अपनेकोबचा रखना और सज्जनोंके पास जाकर वेदोंका दिव्य संदेश सुनाना ॥३४॥

नमो मित्रस्य वरुणस्य चक्षसे महो देवाय तदृतꣳ सपर्यत । दूरेदृशे देवजाताय केतवे दिव-स्पुत्राय सूर्याय शꣳसत ॥३५॥

वत्स ऋषिः । निचृदार्षी जगती छन्दः ।

मित्रस्य स्निग्धजनस्य । वरुणस्य वरणीयस्य । देवाय देवस्य । महस्तेजः । चक्षसे द्रष्टुम् प्राप्तुमितिभावः । तत्प्रख्यातम् । नमः नमस्कार्यम् । ऋतं सत्यं सत्यज्ञानं सदाचारं च । सपर्यत पूजयत स्वीकुरुत । किं च दूरेदृशे दूरस्थपदार्थदर्शनसमर्थाय । केतवे ज्ञानाय । देवजाताय

विद्वत्सेवया प्राप्ताय । दिवस्पुत्राय दिव्यजनरक्षकाय । पुरु त्रायत इति पुत्रः । सूर्याय सर्वत्र सरणशीलाय सूर्यवत्प्रकाशयुक्ताय वा । शंसत यूयं सर्वे जनाः स्तुतेतिभावः । दूरेदृश इत्यादिषु चतुर्थी द्वितीयार्था ॥३५॥

भावार्थ—दयालु वरणीय देव परमेश्वरके तेजको पानेके लिये सत्य और सदाचारका सतत पालन करो । दूरदर्शी ज्ञान को विद्वत्सेवासे प्राप्त करो । उस ज्ञानको जो सर्वत्र पहुँचावे उसकी स्तुति करो ॥३५॥

वरुणस्योत्तम्भनमसि वरुणस्य स्कम्भसर्जनी स्थो वरुणस्य ऋृतसदन्यसि वरुणस्य ऋृतसदन-मसि वरुणस्य ऋृतसदनमासीद ॥३६॥

वत्स ऋषिः । विराड् ब्राह्मी बृहती छन्दः ।

कश्चिन्महोपदेशकः परमेश्वरो वोपदिशति—हे शिष्य त्वं वरुणस्य वरणीयस्य देवस्याचार्यस्य वा । उत्तम्भनमसि प्रतिष्ठासंरक्षकोसि । न केवलं प्रतिष्ठासंरक्षकः प्रत्युत वरुणस्याचार्यस्य स्कम्भसर्जनी प्रतिष्ठारोधकः प्रतिष्ठासंस्थापकश्चासि । स्थ इति द्विवचनं वेदपथानुवृत्तम् । स्कम्भ रोधने । सर्ज अर्जने । किं च हे शिष्य त्वं वरुणस्य वरणीयस्य ज्ञानस्य । ऋतसदनी ऋताय सत्याय सत्योपदेशाय सद्यते उपविश्यते यस्यां सा । तव हृदयं मनो वा प्रविश्याचार्यस्त्वामुपदिशति । अतस्त्वमृतसदनी असि । स्त्रीत्वमविवक्षितम् । अथवा

कांचिदुपदेशिकां स्त्रियमुद्दिश्यैवमुच्यते । त्वं च पुरुष उपदेशकः ऋतसदनमसि सत्यस्य स्थानमसि । अतो वरुणस्य वरणीयस्याचार्यस्यर्तसदनं सत्योपदेशाय स्थितमासनमासीद तत्रोपविश ॥३६॥

भावार्थ—कोई महोपदेशक अपने शिष्यसे कहते हैं कि तू अपने आचार्यकी प्रतिष्ठाका रक्षक है और इतना ही प्रतिष्ठाका संस्थापक भी है । किंच तू अपने आचार्यके सत्योपदेशका पात्र है । आचार्यके सत्योपदेशके प्रचारके लिये यह तेरे लिये आसन है, उसपर बैठ ॥३६॥

या ते धामानि हविषा यजन्ति ता ते विश्वा परिभूरस्तु यज्ञम् । गयस्फानः प्रतरणः सुवीरोऽवीरहा प्रचरा सोम दुर्यान् ॥३७॥

इति (शुक्ल) यजुर्वेदे (माध्यन्दिनसंहितायाम्) चतुर्थोऽध्यायः ।

गोतम ऋषिः । निचृदार्षी त्रिष्टुप् छन्दः ।

या यानि । ते तव । धामानि तेजांसि । हविषा मनसा । यजन्त्युपासकाः । हूयत इति हविः । मनोपि हूयते तपसि परमात्मनि वेति हविर्मनः । ता तानि । ते तव । विश्वा विश्वानि सर्वाणि । धामानि तेजांसि । यज्ञमुपासकम् । यजति पूजयति परमात्मानमिति यज्ञ उपासकस्तम् । परिभूः अस्तु परितो भवनशीलानि भवन्तु । यो यद्ध्यायति स तत्स्वरूप एव भवतीति वेदोक्तिः । किं च हे सोम शान्तस्वरूप, उपासक, गयस्फानो गृहाभिवर्द्धकः सन् । गय इति गृहनाम (निघ. ३।४।

१) । अथवा गयो धनम् (निघ. २।१०।१२) । तच्च विद्याधनमाचारधनं वा । धनवर्धकः सन् । प्रतरणो विद्यामुत्तीर्णः सन् । सुवीरः शोभना विद्यावीरा धर्मवीराः सत्यवीरा वा शिष्या यस्य तथाभूतः सन् । अवीरहा वीराणां धर्मवीराणामनिहन्ता सन् । दुर्यान् दुःखे यातुं प्राप्तुं शक्यान् महापण्डितान् प्रचर गच्छ । तत्तद्विशेषणविशिष्टो भवन् विदुषां सान्निध्यं प्राप्नुहीत्यर्थः ॥३७॥

इतिसर्वतन्त्र-स्वतन्त्र-कवितार्किक-परमहंस-परिव्राजकाचार्य-
पण्डितराज-स्वामि-श्रीभगवदाचार्येण प्रणीतं
(शुक्ल) यजुर्वेदे (माध्यन्दिन-संहितायाम्)
चतुर्थाध्याये यजुः-संस्कारभाष्यम् ।

भावार्थ—हे परमेश्वर तुम्हारे जिस तेजको उपासक अपने मनसे पूजते हैं वे तुम्हारे सब तेज उपासकको चारों ओरसे घेर लें। किंच शान्तस्वरूप उपासक, तू अपने विद्याधन और आचारधनको बढाता हुआ विद्यामें पारङ्गत होकर, स्वयम् उत्तम शिष्यवान् बनकर विद्वानोंका सान्निध्य प्राप्त करता रह ॥३७॥

इति सर्वतन्त्र-स्वतन्त्र-कवितार्किक-परमहंस-परिव्राजकाचार्य-
"पण्डितराज" स्वामिश्रीभगवदाचार्येण प्रणीतं
(शुक्ल) यजुर्वेदे (माध्यन्दिनसंहितायाम्)
चतुर्थाध्याये यजुः-संस्कारभाष्यस्य
हिन्दीभाषया निबद्धं संक्षिप्तरहस्यम्

—०—

स्थापयतीतिभावः । अग्नये सर्वगाय परमेश्वराय त्वां गृह्णामि । रायस्पोषदे रायो ज्ञानधनस्य पोषः पोषणम् । तद्ददातीति रायस्पोषदाः । तस्मै सर्वज्ञानदात्रे विष्णवे परमात्मने त्वा गृह्णामीति पूर्ववत् ॥१॥

भावार्थ–गुरुकुलमें आये हुए ब्रह्मचारीका स्वीकार करते हुए आचार्यका यह वचन है हे शिष्य तू परमत्माका प्रचारक है। अतः सर्वव्यापक परमात्मा की प्रसन्नता सम्पादनके लिये मैं तेरा ग्रहण करता हूँ। तू समस्त जगत्के उत्पादक-परमेश्वरका अङ्ग है अतः मैं परमेश्वरकी प्रसन्नताके लिये तेरा ग्रहण करता हूं। किंच सर्वत्र निरन्तर व्याप्त परमात्माकी प्राप्तिके लिये तू अकस्मात् प्रयत्नशील है अतः परमेश्वरकी प्रसन्नताके सम्पादनके लिये मैं तेरा अङ्गीकार करता हूँ। वह परमात्मा उसीको प्राप्त होता है जिसका आचरण पवित्र है। शान्तेन्द्रियकी अपनी छायामें रखनेवाले, ज्ञानधनके दाता परमात्माकी प्रसन्नताके लिये मैं तेरा ग्रहण करता हूँ ॥१॥

अग्नेर्जनित्रमसि वृषणौ स्थ उर्वश्यस्यायुरसि पुरूरवा असि गायत्रेण त्वा छन्दसा मन्थामि त्रैष्टुभेन त्वा छन्दसा मन्थामि जागतेन त्वा छन्दसा मन्थामि ॥२॥

गोतम ऋषिः। पूर्वस्यार्षी गायत्री छन्दः। गायत्रेणेत्युत्तरस्यार्ची त्रिष्टुप् छन्दः।

स्पष्टोर्थः । अत्रेदमवगन्तव्यम् । आचार्योक्तिरियम् ।

अग्निरग्रगतिः ज्ञानप्रकाशोवा । शिष्यमाह त्वमस्यग्न्युत्पादन-साधनमिति । गुरुशिष्यौ च वृषणावुत्पादनसमर्थौ । स च शिष्य उर्वशी कामयमानः । ज्ञानोत्पदनेच्छुः । आयुः सततमग्रेगमनेच्छुः । पुरूरवा बहुधा ज्ञानोपासकश्च । एवं च स्थित आचार्योऽहं त्वां शिष्यं गायत्रेण छन्दसा स्तुत्येन विधिना मन्थाम्यालोडयामि । (त्रैष्टुभेन) लोकत्रयस्तम्भकस्य (जागतेन) सर्वव्यापकस्य च परमात्मन इच्छया त्वामालोडयामि । एवं चाग्न्युत्पादनं त्वयीति भावः ॥२॥

भावार्थ–आचार्य शिष्यको कहते हैं हे शिष्य तेरे लक्ष्यसे अग्रगति अथवा ज्ञानको मैं उत्पन्न करता हूँ । हम दोनों इस कार्यमें समर्थ हैं । तू हृदयसे ज्ञानोत्पत्तिको चाहता है और निरन्तर इस दिशामें आगे बढ़ रहा है-इसके लिये निरन्तर तेरी पुकार भी है । इसलिये मैं आचार्य प्रशंसनोय रीतिसे तथा तीनों लोकोंको धारण करनेवाले एवं सर्वव्यापक परमात्माकी इच्छासे तेरे मन आदिका आलोडन कर उसमें ज्ञानका प्रकाश करता हूं॥२॥

भवतं नः समनसौ सचेतसावरेपसौ । मा यज्ञꣳ हिꣳसिष्टं मा यज्ञपतिं जातवेदसौ शिवौ भवतमद्य नः ॥३॥

गोतम ऋषिः । आर्षी पङ्क्तिश्छन्दः ।

पुत्रा मातापितरौ प्रार्थयन्ते–हे पितरौ युवां नोस्माकम् । समनसौ मनसा सहितौ । सचेतसौ चेतसा सहितौ । अरेपसौ

पापरहितौ । अस्मासु दोषादर्शिनाविति भावः । भवतम् । प्रार्थनायामाशंसायां वा लोट् । युवां यज्ञं गुरुकुले संगतं माम् । यज देव-पूजासंगतिकरणदानेषु । मा हिंसिष्टं मा विस्मरतम् । अत्र विस्मृतिरेव हिंसा । यज्ञपतिं गुरुकुलाचार्यं मत्पालकं वा । मा हिंसिष्टं मा विस्मरतम् । अद्य नोऽस्माकम् । जातवेदसौ मज्ज्ञानवेत्तारौ । शिवौ कल्याणकरौ च भवतम् ॥३॥

भावार्थ–पुत्र माता-पितासे प्रार्थना करते हैं कि हे माता-पिता, हमारे लिये आप दोनोंही सदा सावधान रहें-हमें भूल न न जावें । हम गुरुकुलमें निवास करेंगे । हमारे गुरुकुलके आचार्यको भी आप लोग न भूलें । कभी-कभी गुरुकुलमें आते रहें, यह इस मन्त्रका भाव है ॥३॥

अग्नावग्निश्चरति प्रविष्ट ऋषीणां पुत्रो अभिशस्तिपावा । स नः स्योनः सुयजा यजेह देवेभ्यो हव्यꣳ सदमप्रयुच्छन्त्स्वाहा ॥४॥

गोतम ऋषिः । आर्षी त्रिष्टुप् छन्दः ।

अग्निर्गतिशीलो ब्रह्मचारी । अग्नौ गुर्वाश्रमे । उत्कर्षं गमयतीत्यग्निः । अगि गतौ । प्रविष्टः । ऋषीणां वेदानाम् । पुत्रः पावयिता । पूञ् पवने । अथवा पु दुःखं, तस्मात्त्रायत इति पुत्रः । वेदानां रक्षक इत्यर्थः । अभिशस्तिपावा अभिशस्तिर्दुःखम् । तस्मात्पाति पुनाति मोचयतीति वा स्वमन्यांश्चेत्यभिशस्तिपावा । स त्वं शिष्यः । स्योनः सुखरूपः सन् । नोऽस्मान् मयाचार्येण सहिताञ् शिष्यान् । इहाश्रमे । सु यज सुखेन मोदय ।

अत्र यजिर्दिव्यर्थः । दिवु क्रीडाविजिगीषाव्यवहारद्युतिस्तुति-मोदमदस्वप्नगतिषु, इति दिव्यर्था दिवेरर्थाः । किं कुर्वन् ? देवेभ्यो विद्वद्भ्यस्तत्र निवासशीलेभ्यः । सदं सर्वदा । हव्यं होतव्यं हृदयम् । प्रतीतिशेषः । अप्रयुच्छन्नप्रमाद्यन् । युच्छ प्रमादे । स्वाहा सु आ हेत्यादि बहुशो व्याख्यातम् ॥४॥

भावार्थ—आचार्य अपने शिष्यसे कहते हैं कि तू ब्रह्मचारी रहनेकी प्रतिज्ञाके साथ इस आश्रममें प्रविष्ट हुआ है । तू वेदों का रक्षक है और बनेगा । सबके आध्यात्मिक दुःखोंका नाश करेगा । तू इस आश्रममें अन्य ब्रह्मचारियोंके साथ सुखसे निवास कर । आश्रमके विद्वानोंके प्रति अपने हृदयमें प्रमाद न करता हुआ अर्थात् उन्हें मान देता हुआ और अपने हृदयको शुद्ध और उदात्त बनाता हुआ उन्नत बन ॥४॥

आ पतये त्वा परिपतये गृह्णामि तनूनप्त्रे शाक्वराय शक्वन ओजिष्ठाय । अनाधृष्टमस्यनाधृष्यं देवानामोजोऽनभिशस्त्यभिशस्तिपा अनभिशस्ते-न्यमञ्जसा सत्यमुपगेषᳪ स्विते मा धाः ॥५॥

गोतम ऋषिः । पूर्वस्यार्षी उष्णिक् छन्दः । अनाधृष्टमि-त्यस्य भुरिगार्षी पङ्क्तिश्छन्दः ।

आचार्यः शिष्यं प्रति ब्रूते । आ पतये आ समन्तात्, पानं पतिः । आपतिरारक्षणम् । समन्ताद्रक्षायै त्वां गृह्णामि । परिपतये परितो रक्षायै त्वां गृह्णामि । किं च तनूनप्त्रे तनुं विस्तरं ज्ञानविस्तरमितियावत् । न पातयतीति तनूनपात् तस्मै ।

शाक्वराय शक्तिमते शक्तिस्वरूपाय। शक्वने सर्वं कर्तुं शक्तिमते। ओजिष्ठाय परमतेजस्विने परमात्मने। त्वां गृह्णामि। परमात्मानं प्रापयितुमिति तात्पर्यम्। किं च त्वमनाधृष्टं न केनापि तिरस्कृतः। अनाधृष्यमतिरस्कार्यश्चासि। देवानां विदुषामोजोसि। अनभिशस्तेन्यमनभिशस्तं प्रशस्तं मार्गमात्मानं नयसीत्यनभिशस्तेनीस्तथासि। द्वितीया ह्यार्षी। इत्याचार्यवचो निशम्य शिष्य आह—अञ्जसा ज्ञानप्रकाशेन। अञ्जू व्यक्तिम्रक्षणकान्तिगतिषु। सत्यं परमात्मानम्। सत्यमार्गं वा। उपगेषयुपगच्छेययुपगायेयं वा। उपपूर्वस्य गायतेर्लेटि रूपमुत्तमैकवचने। स्विते सु साधुभिरिते गते मार्गे मा माम्। धा निधेहि। सन्मार्गं नयेतिभावः ॥५॥

भावार्थ—आचार्य शिष्यसे कहते हैं-सब ओरसे तेरी रक्षाके लिये मैं तेरा ग्रहण करता हूँ। एवं परमात्माके लिये, परमात्मा की प्राप्तिके लिये भी मैं तुझे अपने आश्रममें रखता हूँ। तेरा न तो किसीने तिरस्कार किया और न तू तिरस्कारके योग्य है। तू विद्वानोंका तेज है अर्थात् विद्वान् अपनी विद्या तुझमें स्थापित करेंगे। एवं तू अपनेको सन्मार्गमें ले जाने वाला है। इस आचार्य वचनको सुनकर शिष्य कहता है—आप कृपा करें कि मैं ज्ञानके प्रकाशसे सत्यस्वरूप परमात्माको प्राप्त करूं। मुझे आप सन्मार्गका दर्शन करावें ॥५॥

अग्ने व्रतपास्त्वे व्रतपा या तव तनूरियꣳ सा मयि यो मम तनूरेषा सा त्वयि। सह नौ व्रतपते

वृतान्यनु मे दीक्षां दीक्षापतिर्मन्यतामनु तपस्तपस्पतिः ॥६॥

गोतम ऋषिः । विराड् ब्राह्मी पङ्क्तिश्छन्दः ।

हे व्रतपा व्रतरक्षक । अग्ने आचार्य । त्वे त्वम् । व्रतपा अस्माकं व्रतस्य रक्षकोसि । या च तवेयं तनूर्ज्ञानविस्तरोयम् । सा स मय्यस्तु । यो या ममैषा तनूः शरीरं तत्त्वय्यर्पितमितिशेषः । हे व्रतपते, नावावयोर्व्रतानि कर्माणि सह प्रवर्तमानानि सन्तु । किं च दीक्षापतिर्भवान् मे मम दीक्षामनुमन्यताम् । मां दीक्षितं करोत्वितिभावः । तपस्पतिर्भवान् । तपोनुमन्यताम् । अन्वित्युपसर्गवशाद्योग्यक्रियाध्याहारः । अहं तपोनुतिष्ठानीत्यर्थमाज्ञापयेतिभावः ॥६॥

भावार्थ—हे व्रतरक्षक आचार्य, आप मेरे व्रतके रक्षक हैं। आपका परम ज्ञान मुझमें स्थिर बने। मेरा यह शरीर आपके चरणोंमें समर्पित है। हे व्रतपते, हम दोनोंके कर्म साथही साथ चलें। अर्थात् मेरी प्रपत्ति और आपका ज्ञानदान साथ-साथ-युगपत चलें। आप मुझे दीक्षित करें। आप तपस्पति हैं अतः मुझे भी तपके लिये अनुमति-आज्ञा दें ॥६॥

अꣳशुरꣳशुष्टे देव सोमाप्यायतामिन्द्रायैकधनविदे । आ तुभ्यमिन्द्रः प्यायतामा त्वमिन्द्राय प्यायस्व । आप्याययास्मान्त्सखीन्त्सन्या मेधया स्वस्ति ते देव सोम सुत्यामशीय । एष्टा रायः प्रेषे

भगाय ऋतमृतवादिभ्यो नमो द्यावापृथिवी-
भ्याम् ॥७॥

गोतम ऋषिः। पूर्वार्धे प्यायस्वेत्यन्तं आर्षी बृहती छन्दः। ततः परं आर्षी जगती प्रकृतिर्वा।

जनकः पुत्रं गुरुकुलं नीत्वाचार्याय समर्प्य ब्रूते—हे देव दिव्य सोम शान्त पुत्र। ते तव। अंशुरंशुः प्रत्यंशं प्रत्यवयवम्। आप्यायताम्। एकधनविदे एकं धनं मुख्यं धनं तच्च विद्या। तद्विदे। इन्द्राय परमसमर्थायाचार्याय। सप्तम्यर्थे चतुर्थी। आचार्ये त्वां निक्षिपामि। इन्द्र आचार्यः। तुभ्यं त्वाम्। आप्यायतां वर्धयतां ज्ञानदानेन। त्वं चेन्द्रायाचार्याय आचार्यमित्यर्थः। आप्यायस्व तर्पय प्रसादयेतियावत्। नैतावदेव, अपरमपि, किं तत्? तदेतत्, अस्मान् मातापित्रादीन् स्वजनान्। सखीन् मित्त्राणि। सन्या दानेन मनोदानेन। षणु दाने। मेधया धारणशक्त्या। नवनवोन्मेषशालिनी बुद्धिर्मेधा। अथवा मनस ऐकाग्र्येण यदि त्वं विद्यामभ्यस्यसि तदा वयं प्रसत्स्याम इतिभावः। हे देव दिव्यगुणयुक्तपुत्र, स्वस्ति ते तुभ्यम्। हे सोम शान्त पुत्र सुत्यां सुत्यं सुतस्य भावः कर्म वा। सुतफलमित्यर्थः अशीय प्राप्नुयाम। त्वयि पुत्रे सद्गुणे विदुषि जाते पितृत्वं सफलं भविष्यतीतिभावः। रायो विद्याधनानि तव आ समन्तादिष्टा इष्टानि भवेयुः। किमर्थं विद्याधनान्येष्टव्यानीत्याह—प्रेषे प्रकर्षेणेष्टाय। प्रकर्षेणेष्यत इति प्रेट्। भगायैश्वर्याय ज्ञानरूपाय। ज्ञानसम्पादनार्थं विद्याध्येतव्येतिभावः। विद्या-

ध्ययनेन किं फलमित्याह दार्ढ्यार्थं जनकः—ऋतवादिभ्यः सत्यवदनशीलेभ्य ऋतं सत्यं प्राप्तं भवति। ऋतप्राप्तये विद्या-ध्येतव्येतिभावः। इत्युक्त्वा पिताश्रमाद्गृहं प्रत्याजिगमिषुराह—द्यावापृथिवीभ्यामाश्रमीयाभ्यां परमशुचिभ्यां नम इति ॥७॥

भावार्थ—पिता अपने पुत्रको गुरुकुलमें लेजाता है और कहता है, हे पुत्र, तेरा प्रत्येक अवयव प्रसन्न हो। आचार्यके पास मैं तुझे रखता हूँ। यह तेरा सर्वविध पालन-पोषण करेंगे। तू भी आचार्यकी सेवामें तत्पर रह। किंच तू एकाग्रमनसे विद्योपार्जन करके मुझे, अपनी माताको, अन्य स्वजनोंको, मित्रोंको प्रसन्न कर। हे पुत्र तभी हमें पुत्रोत्पत्तिका फल प्राप्त होगा। विद्यारूप धन ही तेरा इष्ट हो। परम सत्यकी प्राप्तिके लिये तुझे विद्याध्ययन करना ही चाहिये। आश्रमसे विदा होते हुए पिताने पुनः कहा-इस आश्रमकी भूमि और आकाशको मेरा नमस्कार हो ॥७॥

या ते अग्नेऽयःशया तनूर्वर्षिष्ठा गह्वरेष्ठा उग्रं वचो अपावधीत्त्वेषं वचोऽअपावधीत् स्वाहा। या ते अग्ने रजःशया तनूर्वर्षिष्ठा गह्वरेष्ठा। उग्रं वचो-अपावधीत्त्वेषं वचोऽ अपावधीत् स्वाहा। या ते अग्ने हरिशया तनूर्वर्षिष्ठा गह्वरेष्ठा। उग्रं वचो अपावधी-त्त्वेषं वचो अपावधीत् स्वाहा ॥८॥

गोतम ऋषिः। पूर्वस्य विराडार्षी बृहती छन्दः। या त इत्यादेर्निचृदार्षी बृहती छन्दः।

तप्तं पुरुषमयते प्राप्नोतीति तप्तायनी। मामविद्यया तप्तं ज्ञात्वा मत्समीपे त्वमागच्छसि। एवं त्वमेव मे मम वित्तायनी वित्तार्थिनमयत इति वित्तायनी तथाभूतासि। अविद्यापाकरणार्थं धनार्थं च सरस्वती निषेवणीयेति तात्पर्यम्। नन्वविद्यानाशार्थं तु सरस्वत्याः प्रार्थनं युक्तं परं धनप्राप्त्यर्थं तु तथा न युक्तमिति चेदुच्यते—धनस्य द्विधोपयोगः। स्वार्थसिद्धये परार्थसिद्धये च। परार्थसिद्धये तु तत्प्रार्थनं नायुक्तमिति सर्वगम्यम्। स्वार्थसिद्धिविषय उच्यते। महापुरुषाणां वैदिकानां स्वार्थोऽपि परार्थ एव। महापुरुषा यदि धनं प्राप्नुवन्ति परार्थमेव तदुपयुञ्जते। परोपकरणमेव तेषां स्वार्थो भवति। धनेन जीवन्तो महापुरुषाः सर्वकल्याणं साधयन्तीत्यतोपि वित्तयाच्ञा न विरुध्यते। यतस्त्वं तप्तायनी ततो मा माम्। व्यथितादुःखात्। अवताद्रक्षतात्। आशिषि तातङ्। यतस्त्वं वित्तायन्यसि ततो माम्। नाथिताद्याच्ञाकर्मणः। अवतात्। किं च नभो नामाग्निर्विदेत्—णभ हिंसायाम्। नभति हिनस्तीति नभः। मद्धिंसकं कञ्चिद्दुरात्मानमग्निः परमात्मा विदेज्जानीयात्। परमेश्वरो हिंसकान्मा रक्षत्विति प्रार्थयितुरत्राशयः। हे अङ्गिरः सर्वत्र गतिशील परमेश्वर, नाम्ना नमनशीलेनार्जवगुणयुक्तेनायुना मनुष्येण सह। इहि गच्छ। इण् गतौ। यो विनम्रोऽस्ति तेन सहैव परमात्मावस्थानमित्युक्तम्। किं च यस्त्वं परमेश्वरोऽस्यां पृथिव्यामसि व्यापकत्वेन तिष्ठसि यच्च ते तव यज्ञियं यज्ञोपकारकं सत्कर्मकर्मिरक्षकम्। अनाधृष्टमनाधृष्यं नामास्ति तेन नाम्ना तत्त्वन्नामस्मृत्येति

तात्पर्यम् । त्वा त्वाम् । आदधे स्थापयामि स्वहृदय इति तात्पर्यम् । एवं द्वितीयस्यां पृथिव्यामिति तृतीयस्यां पृथिव्यामिति च सर्वं व्याख्येयम् । पृथिवीशब्देनेह प्रसिद्धा पृथिवी न गृह्यते किन्तु देहावस्था गृह्यते । ब्रह्मचर्यावस्थायाम् । गार्हस्थ्यावस्थायाम् उत्तरस्यां चावस्थायां सर्वदा परमेश्वरनाम स्मर्तव्यं तन्नामाधारीकृत्य कृत्यं निखिलमेव सर्वकल्याणार्थं निषेवणीयमिति मन्त्रहृदयम् । हे परमेश्वर, देववीतये विद्वत्तृप्त्यर्थम् । वी गति–व्याप्ति-प्रजन–कान्त्यसनखादनेषु । त्वा त्वाम् । अनु अनुनयामीति । अन्वित्युपसर्गवशाद्योग्यक्रियाध्याहारः ॥९॥

भावार्थ—इस मन्त्रके प्रथम भागसे सरस्वतीकी प्रार्थना की गयी है । हे सरस्वति तुम अविद्यासे पीड़ित जनको प्राप्त होनेवाली हो अतः मुझे अविद्यापीडित जानकर मेरे पास आवो । एवम् तुम धनार्थियोंके पास भी पहुँचती हो । लोककल्यणके लिये मैं धनार्थी भी हूँ अतः तुम मेरे पास आवो । इतनी प्रार्थना सरस्वतीसे करके अब परमेश्वरसे प्रार्थना की जाती है—मेरे जैसे सदाचारपरायणको कोई दुराचारी उपद्रुत न करे, इस विषयमें, हे परमेश्वर, तुम मेरे रक्षक बने रहो । मेरे जैसे विनम्रोंके साथ तुम सर्वदा उपस्थित रहो । किंच हे परमेश्वर इस मेरी ब्रह्मचर्य अवस्थामें, गृहस्थ अवस्थामें, एवं संन्यासावस्थामें आप सदा मेरे साथ रहें । आपके सर्वङ्कष नामका स्मरण करके आपको अपने हृदयमें स्थापित करता हूँ ॥९॥

सिꣳह्यसि सपत्नसाही देवेभ्यः कल्पस्व सिꣳह्यसि सपत्नसाही देवेभ्यः शुन्धस्व सिꣳह्यसि सपत्नसाही देवेभ्यः शुम्भस्व ॥१०॥

गोतम ऋषिः। ब्राह्मी उष्णिक् छन्दः।

गृहस्थाश्रमं प्रविश्य पतिः पत्नीमाह—त्वं सिंही महासाहसासि। अतो देवेभ्यो विद्वद्भ्यः कुटुम्बिभ्योऽन्येभ्यो मित्रेभ्यः सर्वेभ्यः कल्पस्व सर्वेषामेतेषां रञ्जनार्थं समर्था भव। एवं त्वं सपत्नसाही सपत्नानां कामक्रोधाद्यान्तरशत्रूणां बाह्यशत्रूणामपि सर्वथाभिभवकर्त्र्यसि। अतस्त्वं शुन्धस्व शोधयस्व सर्वान् कण्टकान्। शुंभस्व शोभस्व चाध्यात्मिकाधिभौतिकादिबलप्रदर्शनेन ॥१०॥

भावार्थ—गृहस्थाश्रममें प्रविष्ट होकर पति पत्नीसे कहता है कि तू सिंहीके समान अतिबलशालिनी है। अतः विद्वानों, कुटुम्बियों और मित्रोंकी प्रसन्नताके लिये यत्न करती रह। एवं तू काम-क्रोधादि आन्तरिक तथा अन्य बाह्य शत्रुओंके पराभवके लिये भी समर्थ है अतः तू सब कण्टकोंको दूर करती रह तथा आध्यात्मिक, आधिभौतिक बलसे शोभित रह ॥१०॥

इन्द्रघोषस्त्वा वसुभिः पुरस्तात्पातु प्रचेतास्त्वा रुद्रैः पश्चात्पातु मनोजवास्त्वा पितृभिर्दक्षिणतः पातु विश्वकर्मा त्वादित्यैरुत्तरतः पात्विदमहं तप्तं वार्बहिर्धा यज्ञान्निःसृजामि ॥११॥

गोतम ऋषिः। निचृद्ब्राह्मी त्रिष्टुप् छन्दः।

आचार्यः शिष्यं स्वाश्रमं प्रवेशयन्नाशीर्वचनैः संयोजयति–इन्द्रघोषः परमात्मनो घोषो वाक् वेद इतियावत् । वसुभिः सर्वविधनैर्बल्यापाकरणेन । त्वा त्वाम् । पुरस्तात्पूर्वस्यां दिशि पातु रक्षतु । प्रचेताः प्रकृष्टं चेतो विज्ञानं यस्य स विद्वत्समुदायस्त्वा त्वां पश्चात् पश्चिमायां दिशि रुद्रैः प्रकृष्टसाधनै रोदयितृभिः शत्रूणाम् । पातु । मनोजवा मनोवेगस्त्वा त्वां पितृभिः पातृभी रक्षकैर्धर्माचरणादिभिर्दक्षिणतो दक्षिणायां दिशि पातु । विश्वकर्मा कश्चित् तदानीं प्रसिद्धो वायुस्त्वा त्वाम् आदित्यैरादित्यरश्मिसाहाय्येनोत्तरत उत्तरस्यां दिशि पातु । अस्मिन्नाश्रमे त्वं सर्वथा रक्षितो भविष्यसीत्याश्वासनम् । उपर्वाणता देवा उपर्वाणतं रक्षणं करिष्यन्ति, अहं चेदं करिष्यामीत्याचार्य आह–अहम्, तप्तं तापकम् । वार् वारणीयं आच्छादनीयम् । ऊर्णोतेरिण प्रत्ययः । बहिर्धा बहिर्धा बहिष्करणीयम् । इदं जलम् । इदमित्युदकनाम (निघ. १।१२।१०१) । इदि परमैश्वर्ये । 'इन्देः कमिर्नलोपश्च' (उ. ४।१५२) इति कमिप्रत्ययः इदेरिदित्त्वाद्भवतो नुमो लोपश्च । अज्ञाननामकम् । जलं हि गमनशीलमज्ञानमपि तथा । तेनात्रेदं शब्देनाज्ञानं ग्रहीतव्यम् । यज्ञाद्देवात् । तवात्मदेवादित्यर्थः । यज देव-पूजा-संगतिकरण-दानेषु । निःसृजामि निक्षिपामि । अत्र दिङ्नामग्रहणमनपेक्षितमिव प्रतीयते ॥११॥

भावार्थ–आचार्य नवागत शिष्यसे कहते हैं कि-वेदभगवान् तेरी समस्त निर्बलताओंको दूर करेंगे । विद्वान् पश्चिम दिशामें, विश्वकर्मा नामक वायु उत्तर दिशामें, मनोवेग दक्षिण दिशामें

तेरी रक्षा करेंगे और मैं तेरी विवेकशक्तिको ढकनेवाले, दुःखद अज्ञानको तुझसे पृथक् करूँगा। यहां पूर्व, पश्चिम, उत्तर दक्षिण दिशाओंका नाम लेकर कहा गया है कि अमुक दिशामें अमुक तेरी रक्षा करेंगे। मुझे प्रतीत होता है कि इस मन्त्रमें दिशाओंका नाम बहुत फलप्रद नहीं है॥११॥

सिꣳह्यसि स्वाहा सिꣳह्यस्यादित्यवनिः स्वाहा सिꣳह्यसि ब्रह्मवनिः क्षत्रवनिः स्वाहा सिꣳह्यसि सुप्रजावनी रायस्पोषवनिः स्वाहा सिꣳह्यस्यावह देवान्यजमानाय स्वाहा भूतेभ्यस्त्वा॥१२॥

गोतम ऋषिः। भुरिग् ब्राह्मी पङ्क्तिश्छन्दः।

अस्य मन्त्रस्य देवता वाग्विद्यते। वाक्शब्देन सरस्वत्युपलक्ष्यते। सरस्वत्या नामापि वागिति। हे सरस्वति, त्वं सिंही सर्वाज्ञानतमोविनाशिकासि। त्वमादित्यवनिरादित्यैर्देवैर्विद्वद्भी रक्षितासि। वनु दाने। दानमत्र रक्षणम्। ब्रह्मवनिर्ब्राह्मणैर्ब्रह्मवादिभी रक्षितासि। क्षत्रवनिः क्षत्रियादिभिरपि रक्षितासि। अतस्त्वं सुप्रजावनिः शोभनानां विदुषां प्रजानां जनानां वनिर्दात्र्यसि। रायस्पोषवनिः पुष्कलावश्यकधनदात्र्यसि। देवान्योग्यान् ब्रह्मचारिणोऽत्रावह प्रापय। यजमानायाश्रमसंगताय, आश्रमाचार्याय वा स्वाहा सुखमस्तु। भूतेभ्यः समागतेभ्यो समागमिष्यद्भ्योपि ब्रह्मचारिभ्यः स्वाहा। हे सरस्वति त्वा त्वामित्येव प्रार्थयामह इतिलोकाभ्यर्थना॥१२॥

भावार्थ--लोककल्याणके चाहनेवालोंकी प्रार्थना है कि हे सरस्वति, तुम सर्वविध अज्ञानान्धकारकी विनाशिका हो। विद्वानोंसे सुरक्षित हो। ब्राह्मण, क्षत्रियादिसे सुरक्षित हो अत: तुम सुन्दर प्रजाकी दात्री बनो। आवश्यक सभी वस्तुओंकी भी दात्री बनो। योग्य ब्रह्मचारियोंको यहां बुलाओ। आश्रममें रहनेवालों, आश्रमके आचार्यादिको सुख प्राप्त हो। आये हुए और आनेवाले सभी ब्रह्मचारियोंका कल्याण हो। हे सरस्वति तुमसे हमारी इतनी ही प्रार्थना है ॥१२॥

ध्रुवोऽसि पृथिवीं दृꣳह ध्रुवक्षिदस्यन्तरिक्षं दृꣳहाच्युतक्षिदसि दिवं दृꣳहाग्नेः पुरीषमसि ॥१३॥

गोतम ऋषिः। भुरिगार्षी अनुष्टुप् छन्दः।

परमेश्वरं प्रार्थयते-त्वं ध्रुवः स्थिरोस्यतः पृथिवीं पृथिवीस्थान् प्राणिनो दृंह स्थिरान् कुरु। ध्रुवक्षिदस्यविनश्वरे पदे स्थितोसीत्यन्तरिक्षमन्तरिक्षलोकं दृंह। अच्युतक्षिदप्रच्याव्यस्थाने स्थितोसीति दिवं द्युलोकं दिव्यजनलोकं दृंह। हे परमेश्वर त्वमग्नेर्गतिशीलस्य जीवसमुदायस्य निर्जीवलोकस्यापि पुरीषमसि पालकोसि। पॄञ् पालनपूरणयोः। "शॄपॄभ्यां किच्च" (उ० ४।२७) इतीषन् प्रत्ययः। पिपर्ति लोकमिति पुरीषम् ॥१३॥

भावार्थ--हे परमेश्वर, तू स्थिर है अतः पृथिवी, अन्तरिक्ष और द्युलोकको भी दृढ रख। तू चर और अचर सबका पालक है ॥१३॥

युञ्जते मन उत युञ्जते धियो विप्रा विप्रस्य बृहतो विपश्चितः। वि होत्रा दधे वयुनाविदेक इन्मही देवस्य सवितुः परिष्टुतिः स्वाहा ॥१४॥

गोतम ऋषिः। स्वराडार्षी जगती छन्दः।

विप्रा विद्वांसः। विप्रस्य व्यापकस्य। बृहतो महतः। विपश्चितो विदुषः परमात्मनः। सर्वत्र षष्ठी सप्तम्यर्थे। मन उत धियः। युञ्जते नियुञ्जते। होत्रा होता। आत्मसमर्पकः। प्रथमार्थे तृतीया। युञ्जते इति बहुवचनमेकत्वार्थे। अथवा विकरणव्यत्ययेन रूपम्। वयुनाविद् ज्ञानी। एक इदेक एव। सवितुर्जगदुत्पादकस्य देवस्य देदीप्यमानस्येश्वरस्य। महीं महतीम्। परिष्टुतिः परितः स्तुतिरस्तीति शेषः। सु आ हा तमादधाति होतेति योज्यम् ॥१४॥

भावार्थ—आत्मसमर्पक उपासक व्यापक, महान्, सर्वज्ञ परमात्मामें अपने मन और बुद्धिको नियुक्त करते हैं। वह परमात्मा सर्वज्ञ और एक है। उस देवकी बड़ी भारी कीर्ति है। होता उसे ही हृदयमें धारण करता है ॥१४॥

इदं विष्णुर्विचक्रमे त्रेधा निदधे पदम्। समूढमस्य पांसुरे स्वाहा ॥१५॥

मेधातिथिर्ऋषिः। भुरिगार्षी गायत्री छन्दः।

विष्णुर्व्यापकः परमात्मा। वेवेष्टि सर्वं जगदिति विष्णुः। अथवा विशति प्रविशति सर्वं जगदिति विष्णुः। परमेश्वरः।

इदं जगद्। विचक्रमे विक्रान्तवान् निर्मितवानित्यर्थः। अत्र च त्रेधा त्रिविधं पदं गतिमित्यर्थः। निदधे निहितवान् स्थापितवान्। उत्तमा मध्यमाधमा चेति त्रिविधा गतिः। कीदृशं पदम्? अस्य जगतः पांसुरे पांसुले समूढं निगुप्तमित्यर्थः। अन्तर्हितमिति भावः। निरुक्ते व्याख्यातोयं मन्त्रः। "समूढमस्य पांसुरे प्यायनेन्तरिक्षे पदं न दृश्यते। अपि वोपमार्थे स्यात्। समूढमस्य पांसुल इव पदं न दृश्यत इति। पांसवः पादैः सूयन्त इति वा, पन्नाः शेरत इति वा, पंसनीया भवन्तीति वा" (नि. १२।१९)। स्वयं चात्र जगति न दृश्यते परं त्रिविधा गतीर्निर्माय जीवांस्तत्तत्कर्मानुसारेणोत्तमां वा मध्यमां वा गतिं नयतीतिभावः। सु आ हा, तस्मै सुखेनात्मानं जहामि समर्पयामीत्यर्थः॥१५॥

भावार्थ—परमेश्वरने इस जगत्का निर्माण किया है। उत्तम, मध्यम और अधम तीन गतियोंकी उसने यहां स्थापना की थी। वह सब गतियां इसी जगत्में छिपी हुई हैं। अर्थात् समय-समयपर प्रकट होती रहती हैं॥१५॥

इरावती धेनुमती हि भूत१ँ सूयवसिनी मनवे दशस्या। व्यस्कभ्ना रोदसी विष्णवे ते दाधर्थ पृथिवीमभितो मयूखैः स्वाहा॥१६॥

वसिष्ठ ऋषिः। स्वराडार्षी त्रिष्टुप् छन्दः।

भूतं भावयितृ जगत् जगदुत्पादकं ब्रह्म परमेश्वरः। मनवे ज्ञानवते मनुष्याय। मनु ज्ञाने। इरावती नदी। इरावतीति

नदीनाम । 'इण गतौ' इत्यस्मात् "ऋज्रेन्द्राग्र० (उ. २।२७) इत्यादिना रप्रत्ययो, गुणाभावश्च निपात्यते । इरा बलम् । तदस्त्यासामिति मतुप्, वत्वं, ङीप् । धेनुमती गोमती । सूयवसिनी सुष्ठुभोज्यपदार्थवती । यवसं भोज्यं वस्तु । सुयवस-शब्दादिनिः । सू इत्यत्र च्छान्दसं दीर्घत्वम् । सूयवसादित्यृग्वेदे (१।१६४।४०) प्रयोगः । दाशस्या सर्वपदार्थदात्री । दाशृ दाने । सर्वत्र द्वितीयार्थे प्रथमा । पृथिवीं निर्ममे इति शेषः । किं च रोदसी द्यावापृथिव्यौ । व्यस्कभ्ना निर्ममौ । पुरुषव्यत्ययः । स्कभि प्रतिबन्धे । विकरणव्यत्ययः । किं च पृथिवीमभितः सर्वतः । मयूखैः स्वप्रकाशैः स्वसामर्थ्येनेतितात्पर्यम् । मिन्वन्ति तम इति मयूखाः । डुमिञ् प्रक्षेपणे । अथवा "माङः ऊखो मय च" (उ. ५।२५) इत्यनेन माङ् माने इत्यस्माद्धातोर्मयूख-सिद्धिः । मिमीते इति मयूखः । दाधर्थ दर्धति । यदि भूतमित्येव कर्तृ सर्वत्र तदा पुरुषव्यत्ययः सर्वत्र । यदा च त्वमित्यध्यहृत्य व्याख्यायते तर्हि मध्यमपुरुषस्यैव साधुत्वम् । हे विष्णो, ते तुभ्यं विष्णवे व्यापकाय परमेश्वराय सु आ हा आत्मानं समर्पयामि ॥१६॥

भावार्थ—जगदुत्पादक परमेश्वरने मनुष्यके लिये नदी, धेनुमती, सुन्दरभोज्यपदार्थवाली, सर्वपदार्थदात्री पृथिवी आदि का निर्माण किया है । पृथिवीको अपने मयूखोंमें—सामर्थ्यसे उसने धारण किया है । हे व्यापक परमेश्वर तुम्हारे लिये मैं अपनेको अर्पित करता हूँ ॥१६॥

देवश्रुतौ देवेष्वाघोषतं प्राची प्रेतमध्वरं कल्पयन्ती ऊर्ध्वं यज्ञं नयतं मा जिह्वरतम्। स्वं गोष्ठमावदतं देवी दुर्ये आयुर्मा निर्वादिष्टं प्रजां मा निर्वादिष्टमत्र रमेथां वर्ष्मन् पृथिव्याः॥१७॥

वसिष्ठ ऋषिः। स्वराड् ब्राह्मी त्रिष्टुप् छन्दः।

हे देवश्रुतौ विद्वत्सु प्रसिद्धौ गुरुशिष्यौ। प्राची पूर्वस्यां दिशि प्रेतं गच्छतम्। देवेषु विद्वत्स्वेव। आघोषतं सर्वथा शब्दं कुरुतं वेदघोषणां कुरुतमिति वा। किं कुर्वन्तौ? अध्वरं हिंसाविरहितं सत्कर्म कल्पयन्ती कल्पयन्तौ कुर्वन्तौ। यज्ञमात्मानमूर्ध्वं नयतं उन्नतं कुरुतम्। मा जिह्वरतं कौटिल्यमाचरतम्। ह्वृ कौटिल्ये। स्वं स्वकीयम्। गोष्ठं गोस्थानम्। विद्यास्थानम्। गौर्वाक् सा च विद्यैव। विद्यास्थानं गुरुकुलम्। आवदतं प्रख्यापयतम्। तथा धर्मप्रचारो विद्याप्रचारश्च कर्तव्यो यथा स्वगुरुकुलस्य प्रतिष्ठा वर्धेत। देवि व्यवहारवति। देवनं देवो व्यवहारः। दिवु क्रीडाविजिगीषाव्यवहारद्युतिस्तुतिमोदमदस्वप्नकान्तिगतिषु। देवोऽस्त्यस्येति देवि व्यवहारयुक्ते इत्यर्थः। दुर्ये गृहे। दुर्य इति गृहनाम। आयुर्जीवनम्। मा निर्वादिष्टं निर्वादयुक्तं दुर्वादयुक्तं मा कुरुतम्। प्रजां लोकम्। निर्वादिष्टं मा निराकार्ष्टम् निराकृतं मा कुरुतम्। अत्र लोके पृथिव्या वर्ष्मन् वर्ष्मणि शरीरे पृथिव्या उपरीत्यर्थः। रमेथां प्रसादेन जीवनं यापयतम्॥१७॥

भावार्थ—हे विद्वानोंमें प्रसिद्ध गुरु-शिष्यो, पूर्व दिशामें

जावो और हिंसाहीन उत्तम कर्म करते हुए वेदोंकी घोषणा करो। अपनेको उन्नत बनाओ। कुटिल आचार-विचारका धारण कभी भी नहीं करना। अपने गुरुकुलकी ख्याति बढ़ाओ। घरमें ही रहकर व्यवहारोंका निर्वाह करते हुए जीवन समाप्त मत करो। प्रजाका तिरस्कार न करो। पृथिवीपर आनन्दसे जीवन-यापन करो ॥१७॥

विष्णोर्नु कं वीर्याणि प्रवोचं यः पार्थिवानि विममे रजाꣳसि। यो अस्कभायदुत्तरꣳ सधस्थं विचक्रमाणस्त्रेधोरुगायो विष्णवे त्वा ॥१८॥

औतथ्यो दीर्घतमा ऋषिः। स्वराडार्षी त्रिष्टुप् छन्दः।

विष्णोः सर्वव्यापकस्य परमात्मनः। नुकमित्यव्ययपदमेवार्थे। वीर्याणि सामर्थ्यम्। प्रवोचं प्रकर्षेण ब्रवीमि स्तौमीतिभावः। यः पार्थिवानि पार्थिवान्। रजांसि लोकान्। विममे निर्मितवान्। यश्च त्रेधा त्रिभिः प्रकारैरुपरिमध्यमाधोरूपैर्विचक्रमाणो विक्रमं कुर्वाणः प्रकारत्रयेण सर्वसृष्टिनिर्माणरूपं पराक्रमं कुर्वाण इत्यर्थः। उत्तरमुत्कृष्टम्। सधस्थं सहस्थानम्। यत्र परमात्मा जीवाश्च सहैव मुक्तदशायां तिष्ठन्ति। अस्कभायत्स्तम्भितवान्। अतएव स उरुगाय उरुभिर्बहुभिर्विद्वद्भिर्गीतो भवति। आचार्यः कथयति—इत्थंभूताय विष्णवे परमात्मने। हे शिष्य त्वा त्वां समर्पयामि। अथवा सप्तम्यर्थे चतुर्थी। इत्थम्भूते परमात्मनि त्वां नियुञ्जइत्यर्थः ॥१८॥

भावार्थ—सर्वव्यापक परमात्माके सामर्थ्यकी स्तुति करता हूँ

जिसने सब लोकोंको उत्पन्न किया और जिसने ऊपर, तथा नीचे सर्वत्र सृष्टिका निर्माण करते हुए सर्वोत्कृष्ट मुक्तिस्थान को रोक रखा है। इसीलिये सब लोग उसकी स्तुति करते हैं। हे शिष्य ऐसे परमात्माकी सेवामें मैं तुझे नियुक्त करता हूँ॥१८॥

दिवो वा विष्ण उत वा पृथिव्या महो वा विष्ण उरोरन्तरिक्षात्। उभा हि हस्ता वसुना पृणस्वा प्रयच्छ दक्षिणादोत सव्याद्विष्णवे त्वा ॥१९॥

औतथ्यो दीर्घतमा ऋषिः। निचृदार्षी जगती छन्दः।

हे विष्णो परमात्मन्, दिवो द्युलोकाद्वा। उत वा अथवा। पृथिव्याः। महो महतः। उरोर्विस्तीर्णात्। अन्तरिक्षादन्तरिक्ष-लोकात्। आनीतेनेति शेषः। वसुना धनेन। उभा हि हस्ता उभावेव हस्तौ। मदीयाविति शेषः। पृणस्व पूरय। दक्षिणा दक्षिणाया दिशः। उत सव्यादुत्तरदिशश्च। प्रयच्छानीतं द्रव्यं देहीति। विष्णवे व्यापकाय परमात्मने त्वा तुभ्यमञ्जलिं समर्पयामि। केनचिद्भिक्षुकेण कृता प्रार्थनेति ॥१९॥

भावार्थ–हे परमेश्वर, द्युलोकसे अथवा पृथिवीसे अथवा महान् अन्तरिक्ष लोकसे धन ले आकर मेरे दोनों हाथोंको भर दो। दक्षिण दिशासे, उत्तर दिशासे लाये हुए द्रव्यको हमें दो। मैं तुम्हारे सामने हाथ जोड़ता हूं। यह किसी भिक्षुककी प्रार्थना है ॥१९॥

प्र तद्विष्णुः स्तवते वीर्येण मृगो न भीमः कुचरो गिरिष्ठाः। यस्योरुषु त्रिषु विक्रमणेष्वधिक्षियन्ति भुवनानि विश्वा ॥२०॥

औतथ्यो दीर्घतमा ऋषिः। विराडार्षी त्रिष्टुप् छन्दः।

गिरिष्ठा गिरिषु स्थितः। कुचरः क्वायं न चरति ? अर्थात् सर्वव्यापकः। अथ चेद्देवताभिधानं क्वायं न चरतीति निरुक्तम् (१।२०)। भीमो भयङ्करः। बिभ्यति यस्मात्सर्व इति। गिरिष्ठाः सर्वेषां गिरि वाचि तिष्ठतीति। मृगो न मृग इव मृग्यमाण इव। सर्वैर्ऋषिभिर्मुनिभिर्देवैर्मृग्यत एव परमात्मा। तत् सः। विष्णुर्व्यापकः। अथ यद्विषितो भवति तद्विष्णुर्भवति। विष्णुर्विशतेर्वा व्यश्नोतेर्वेति निरुक्तम् (१२।१८)। परमात्मा प्रस्तवते सर्वैः प्रकर्षेण स्तूयते। यस्य परमात्मनः। त्रिषूरुषु महत्सु विक्रमणेषु लोकेषु। विश्वा विश्वानि सर्वाणि। भुवनानि प्राणिनोप्राणिनश्च। अधिक्षियन्ति निवसन्ति। क्षि निवासे। सन्ति नाम बहवो लोका उपरिष्ठा मध्यस्था अधस्थाश्च। क्रमु पादविक्षेपे। यत्र यत्र जनाः प्रचलन्ति तत्र सर्वत्र क्रम इति वा विक्रम इति वा व्यवह्रियते। एवं च विक्रमा लोकाः। न हि पादाः ॥२०॥

भावार्थ–सर्वव्यापक, भयावह, सबकी वाणीका विषय, ऋषि, मुनि, आदि सभी जिसकी प्राप्तिकी इच्छा करते हैं; उस सर्वव्यापक परमात्माकी सभी स्तुति करते हैं। जिस परमात्मा के तीन लोकोंमें चर, अचर सभी निवास करते हैं ॥२०॥

टि०—न हि परमात्मा त्रिपर्ण इव त्रिपाद्भवति । न वा स गोजर इव बहुपाद्भवति । सहस्रपादित्यत्र सहस्रशब्दो बहु-वचनः । तथापि स न स्वतो बहुपाद्भवति किन्तु सर्वव्यापक-त्वात्सर्वेषां मनुष्यपश्वादीनां पादानुपगृह्य सहस्रपादिति गौणो व्यवहारः । यदि स पादवान् स्यादनित्य एव स्यात् । भौमैः

टि०—संसार बहुत बड़ा है । अभी तक सृष्टिका अन्त किसीने भी नहीं देखा है । देखनेका प्रयास हो रहा है । सूर्य-चन्द्र आदि भी एक लोक ही हैं । वहां कैसे लोग रहते हैं, इस जिज्ञासाकी शान्तिके लिये रशियाके पराक्रमकी प्रतीक्षा करनी चाहिये । मोक्षलोक और ब्रह्मलोक भी अब अपरिचित केवल शास्त्रीय रहस्य नहीं रह सकता । ये सब लोक हैं भी या केवल **कविसमयके** समान ऋषि-समयमात्र हैं, इसका भी घटस्फोट हो ही जायगा ।

इस मन्त्रमें विक्रमका अर्थ चरण तो नहीं ही है । इसी वेदमें ईश्वरके सशरीर होनेका निषेध किया है । पाद भी शरीराङ्ग ही हैं । शरीरी आज तक कोई नित्य नहीं देखा गया है । यदि परमेश्वर शरीरी होगा तो वह भी अनित्य ही होगा, नित्य नहीं । काल्पनिकोंने ईश्वरके नित्यत्वकी कल्पना की है । अतः वह अशरीरी ही होगा । अथवा उसके शरीर और अशरीरका विचार ही व्यर्थ है । उपनिषदों ने सारे विश्वको ही उसका शरीर माना है और उसी शरीरसे वह शरीरी भी बन सकता है और नित्य भी रह सकता है । अथवा वह दोनों प्रकारसे ही स्थित होगा—शरीरी भी और अशरीर भी । दोनों ही अवस्थाओंमें वह नित्य ही होगा । वह जब मन-वाणीका विषय ही नहीं है तब उसके शरीरित्व-अशरीरत्वकी विवेचना ही निष्फल जलताडनवत् प्रयास है ।

परमाणुभिरेव तस्यापि पादानामुत्पत्तिः स्यात्। सोत्पत्तिकं सर्वमनित्यम्। अकायमव्रणमस्नाविरमित्यादि-वचनविलोचन-विलोडनैः परमात्माङ्गावयवानामत्रैव निषेधः। त्रिविक्रमाख्यः पुराणप्रतिपादितो भगवदवतारस्तु नात्रावतारणीयः। वेद-कालेषु पुराणप्रतिपादितावताराणामदर्शनात्। न पश्चाद्भवैः पुराणवचनैः प्राग्भवानां वेदवचनानामर्थो निर्वाच्यः। अनौ-चित्यात्। यदि वेदकाले भगवदवताराणां प्रसिद्धिः स्यान्न तदुल्लेखे वेदानां मानहानिः स्यात्। न कुत्रापि वेदेष्ववतीर्णो-वतारसंवादः।

अवतारोंकी कल्पना वैदिककालमें नहीं थी, यह निर्विवाद है। क्षत्रियोंके प्राधान्यकी सिद्धिके लिये ही ईश्वरावतार आया है। हम देखते हैं कि जितने समृद्ध अवतार हैं वह सब क्षत्रिय हैं। राम और कृष्ण दोनों ही क्षत्रिय हैं और अतिसमृद्ध अवतार हैं। ये दोनों ही क्षत्रिय हैं। परशुरामको भी अवतितीर्षा उत्पन्न हुई और वह ब्राह्मण था, अत क्षत्रिय रामावतारने उसे अपमानित कर दिया और ब्राह्मण-को क्षत्रियका दास बनना पड़ा। वामन भी ब्राह्मण था। वामन अवतार भी छली और कपटी अवतार बताया गया। वह विशुद्ध नहीं रह सका। वह अवतार बन ही कैसे सका, यही आश्चर्य है। उस काल के क्षत्रियमाहात्म्यने कभी किसी ब्राह्मणको आगे बढ़ने नहीं दिया था। ऋषभ प्रथम अवतार है वह भी क्षत्रिय है। बुद्ध भी अवतार है वह भी क्षत्रिय है। राम, कृष्ण, ऋषभ, बुद्ध किसीने भी वेदोंका प्रचार नहीं किया है। कृष्णने तो गीतामें वेदोंका तिरस्कार भी किया है। मालूम होता है कि ऐसे ही विषम समयमें **'विद्या ह वै ब्राह्मणमाजगाम गोपाय मा शेवधिष्टे हमस्मि'** यह कहा गया होगा। मैं समझता हूं

प्रायेणेश्वरस्वरूपस्तु काल्पनिक एव। न हि तस्य किंचिन्निश्चप्रचं रूपं भवितुमर्हति। अतो यदि लौकिकाः पारमेश्वरानवतारान् कल्पयन्ति कल्पयित्वैव च तानामोदं वा प्रमोदं वा सम्पादयन्ति तर्हि न ते भर्त्सनीयाः। यद्यस्ति परमात्मा तर्हि सशरीरोऽशरीरो वा स भवतु किमत्र विवाद उत्थापनीयः। यदि शरीरित्वेन विनाशित्वं स्यात्तस्य, स्यान्नाम का वो हानिः? परमात्मा विनश्यच्छरीरो वाविनश्यच्छरीरो वा भवतु न तेन कस्यापि किञ्चिदपि दुष्यति। स तु केवलमुपास्यः। उपासनायाः साधनं हि सः। उपासनायाः फलमलौकिकेनैव प्रकारेणोपजायत इत्यन्यत्र विस्तरः॥२०॥

कि पुराणोंके आधारपर यह जो भाव प्रचारित है कि परशुरामने २१ बार पृथिवीको क्षत्रियरहित बनाया था, उसीके बदलेमें क्षत्रिय समाज जागरित होकर, ईश्वरावतार बनकर, परशुरामका अपमान कर सका था। मनु स्वयं भी राजा था—क्षत्रिय था। मनुकी स्मृति मनुकी ही बनाई है, इसमें अभी तक कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं हुआ है। परन्तु वह क्षत्रियोदयकालकी अवश्य है। अतएव उसमें भी राजाओंको देवांश लिखा गया है। आज तो पृथिवीपरसे राजाओंका नामोनिशान मिट गया है। कहीं कुछ है भी तो वह मिटनेकी तैयारी में है। अब न राजा है और न उनका प्रभुत्व है। तब ब्राह्मण-क्षत्रियके प्रभुत्वका संवाद और विवाद भी अस्त हो चुका है और हो रहा है।

कहनेका सारांश यह है कि यह नितान्त सत्य है कि वैदिककालमें ईश्वरकी कोई स्पष्ट कल्पना या अवतार-कल्पना नहीं थी। मैंने अपने ग्रन्थोंमें जहां-तहां अवतारसिद्धि की है। वेदोंसे ही रामावतारकी सिद्धि की है, वह तो केवल साम्प्रदायिकताका रक्षणमात्र है। नीलकण्ठने

विष्णो रराटमसि विष्णोः श्नप्त्रे स्थो विष्णोः स्यूरसि विष्णोर्ध्रुवोऽसि वैष्णवमसि विष्णवे त्वा ।

औतथ्यो दीर्घतमा ऋषिः । भुरिगार्षी पङ्क्तिश्छन्दः ।

आचार्यः शिष्यं शिक्षयति–त्वं विष्णोः सर्वगस्य पर-

ऋग्वेदके मन्त्रोंसे रामादि अवतारोंकी सिद्धि की है। वह तो वैदुष्य-प्रदर्शनमात्र है । मैंने भी वाल्मीकिसंहिताकी टिप्पणीमें रामानन्द स्वामीके अवतारकी सिद्धि वेदमन्त्रसे की है वह भी वैदुष्यप्रदर्शनमात्र ही है । काल बड़ा बलवान् है । मनुष्य सर्वदा कालका अनुयायी रहा है। भविष्यमें भी ऐसा ही रहेगा और तब बुद्धिवैभवप्रदर्शन होता ही रहेगा ।

यदि अवतारवादसे जगत्का लाभ होता हो तो उसकी कल्पनाका मैं कभी विरोध नहीं करना चाहता। सत्य और तथ्य अलग वस्तु है और लोक-कल्याण अलग वस्तु है। लोककल्याण सत्यसे ही हो सकता है, यह अमर सत्य नहीं है । असत्यसे भी लोककल्याण सिद्ध किया जा सकता है। त्रिविक्रमावतार इसमें प्रमाण है । अन्य भी अनेक प्रमाण हैं।

मैं इतना पुनः उच्चारण करता हूं कि वैदिक समयमें अवतारवाद किसी भी ऋषिकी जिह्वापर नहीं था, मनमें भी नहीं था, हृदयमें भी नहीं था । वेदोंके रचनाकालमें अवतारवादका कोई चिह्न नहीं है ।

इस मन्त्रका विद्वानोंने अवतारसिद्धिमें उपयोग किया है, अतः मुझे इस पर थोड़ासा अधिक लिखना पड़ा है । इतना ध्यानमें रहे कि मैं श्रीवैष्णव सम्प्रदायमें दीक्षित हूं और आज भी श्रीवैष्णव हूं । श्री-वैष्णव सत्यका अपलाप कभी नहीं करता यही उसका श्रीवैष्णवत्व है ॥२०॥

मात्मनः। रराटमसि रराटोसि विशेषेण रटनशीलोसि। परमेश्वरोपासकोसीति यावत्। त्वं विष्णोः श्नप्त्रे स्थः श्नप्त्रमसि शोध्योसि। श्नप्त्रं स्नप्त्रम्। ष्णा शौचे। तालव्यादिस्तु श्रुतिमाहात्म्येन। द्विवचनमपि तथैव। स्नप्यते इति स्नप्त्रः। किं च त्वं विष्णोः स्यूरसि श्लिष्टोसीति। विष्णुसम्बद्धोसीतिभावः। षिवु तन्तुसन्ताने। स्यूतं वस्त्राद्यपि परस्परं श्लिष्टमेव भवति। विष्णोर्ध्रुवोसि निश्चलतत्त्वमसि। ध्रुवति स्थिरं भवतीति ध्रुवम्। औणादिकः क प्रत्ययः। वैष्णवमसि वैष्णवोसि विष्णोर्धार्योसि पाल्योसि रक्ष्योसीतिभावः। विष्णोर्भक्तोसीति वा। अतस्त्वा त्वां शिष्यं विष्णवे परमात्मना। तृतीयार्थे चतुर्थी। योजयामीति शेषः ॥२१॥

भावार्थ—आचार्य शिष्यको उपदेश देता है कि तू परमात्मा का स्मरण करनेवाला है। वह तेरी शुद्धि करेगा। तू परमेश्वर में ही संलग्न है। अतः तू परमेश्वरका निश्चल तत्त्व है। वह तेरा रक्षक है। तू उसका भक्त है। अतः मैं तुझे उसीके साथ जोड़ता हूँ ॥२१॥

देवस्य त्वा सवितुः प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्याम्। आददे नार्यसीदमहꣳ रक्षसां ग्रीवा अपि कृन्तामि। बृहन्नसि बृहद्रवा बृहतीमिन्द्राय वाचं वद ॥२२॥

औतथ्यो दीर्घतमा ऋषिः। देवस्य त्वेत्यस्य साम्नी पङ्क्तिश्छन्दः। आदद इत्यादेर्भुरिगार्षी बृहती छन्दः।

देवस्यत्वेत्यादि बहुशो व्याख्यातम् । आदद इति । हे परमेश्वर, आददे त्वामहं गृह्णामि स्वीकरोमि । न अर्यसि न गच्छसि न मत्तः दूरे पलायितो भविष्यतीति भावः । ऋ गतौ । विकरणव्यत्ययः । इदमहमुपासकः । रक्षसां दुष्टानां दुर्जनानां कामक्रोधादीनां वा । ग्रीवा कण्ठम् । कृन्तामि छिनद्मि । अपिशब्दादन्यदप्यङ्गं ग्राह्यम् । न हि कामक्रोधादीनां कण्ठो भवति । केवलं तेषां विनाशे तात्पर्यम् । हे परमेश्वर, बृहन्नसि महानसि । बृहद्रवा बहुवक्तासि । वेदानां वक्ता स एवेति वैदिकाः । इन्द्राय जीवाय मह्यमित्यर्थः । बृहतीं वाचं महतीं वेदरूपां वाचं वदोपदिश । आचार्यमुद्दिश्यापीयमेव पदयोजना ॥२२॥

भावार्थ—प्रथम पादका अर्थ लिखा जा चुका है । द्वितीय-तृतीय पादका अर्थ यह है—हे परमेश्वर मैं तुम्हारा स्वीकार करता हूँ । अब तुम मुझसे दूर नहीं जा सकते । मैं अब काम-क्रोधादि शत्रुओंका संहार करता हूं । तुम महान् हो । वेदोंके वक्ता भी तुम ही हो । मुझ जीवको वेदोपदेश करो । आचार्यके लिये भी ऐसा ही कहा जासकता है ॥२२॥

रक्षोहणं वलगहनं वैष्णवीमिदमहं तं वलगमुत्किरामि यं मे निष्ट्यो यममात्यो निचखानेदमहं तं वलगमुत्किरामि यं मे समानो यमसमानो निचखानेदमहं तं वलगमुत्किरामि यं मे सबन्धुर्यमसबन्धुर्नि-

चखानेदमहं तं वलगमुत्किरामि यं मे सजातो यम-
सजातो निचखानोत्कृत्यां किरामि ॥२३॥

औतथ्यो दीर्घतमा ऋषिः । बहुविधानि छन्दांसि ।

अहमार्तः । इदमिमं तं वलगं वलं संवरणमाच्छादनम् । वल संवरणे । तद्गच्छति प्राप्नोतीति वलगो सर्वव्यापारावरोधको वलग इत्युच्यते । तं हन्तीति वलगहन् तं वलगहनं सर्वव्यापारावरोधकावरोधकम् । रक्षोहणं दुष्टसंहारकम् । 'रक्षो रक्षितव्यमस्माद्, रहसि क्षणोतीति वा, रात्रौ नक्षत इतिवे'ति निरुक्तम् (४।१८) । वैष्णवीं विष्णुशक्तिम् । आश्रित्येतिशेषः । वलगं सर्वव्यापारावरोधकमालस्यादिकम् । उत्किराम्युत्क्षिपामि । यं वलगं विघ्नं मे मम । निष्ट्यो निर्गत्यासमत्तः सङ्घीभवन् कश्चिद् । अथवा अमात्यः कश्चित्सहयायी । अमेति गृहनाम (निघ. ३।४।११) । अमाशब्दो गृहार्थः सहार्थोवेति महीधरोत्रैव । एवं च अमा सह भवोमात्यः । सहजात इत्यर्थः । निचखान स्थापितवान् । समानः सधर्मा, असमानोसधर्मा । सबन्धुः समानो बन्धुर्यस्य समानकुलज इत्यर्थः । असबन्धुरसमानकुलजः । सजातो भ्राता । असजातो भ्रातृभिन्नः । तान् सर्वानुत्किराम्युत्क्षिपामीति दीर्घतमा ऋषिराह ॥२३॥

भावार्थ—दीर्घतमा ऋषि कहते हैं कि मैं आर्त हूं, कि मैं अपने शत्रुओंको उनकी शक्तिके विरुद्ध शक्तिद्वारा दूर फैंकता हूं, वह चाहे मुझ से अलग होकर संघ बनाकर रहते हों अथवा एक ही कुलके हों, अथवा मेरे सहोदर ही हों ॥२३॥

स्वराडसि सपत्नहा सत्रराडस्यभिमातिहा जनराडसि रक्षोहा सर्वराडस्यमित्रहा ॥२४॥

औतथ्यो दीर्घतमा ऋषिः। भुरिगार्षी अनुष्टुप् छन्दः।

शिष्यो गुरुं स्तौति। हे गुरो त्वं स्वराडसि स्वयमेव राजत इति स्वराट्। स्वयमेव राजमानोसि नास्माभिः शिष्यै-रितिभावः। प्रशंसार्थमेतद्वचनम्। सपत्नहासि सपत्नानां स्वापमानिनां पराजेतासि। सत्रराडसि सतां त्राणमिति सत्त्रम्। सत्त्रेण राजस इति सत्त्रराडसि। सतां विद्याप्रदानेन रक्षणकर्मणा राजमानोसीतिभावः। अभिमातिहा मिथ्याभि-मानिनां हन्ता तदभिमाननिहन्तासीतिभावः। जनराडसि जनैः शिष्यप्रशिष्यादिभी राजमानोसि। रक्षोहासि दुर्जनानां पराभवितासि। रक्ष्यन्ते जना येभ्यस्तानि रक्षांसि। अथवा रक्षन्ति येनकेनापि प्रकारेण स्वार्थमिति रक्षांसि। सर्वराडसि सर्वापेक्षया राजमानोस्याधिक्येन। सर्वान् स्वशिष्यान्वा राज-यितासि। किं चामित्रहासि रूक्षस्वभावानां निहन्ता दूरं गमयितासि। ञिमिदा स्नेहने ॥२४॥

भावार्थ—शिष्य गुरुकी स्तुति करता है कि हे आचार्य आप स्वयं राजमान हैं, अपने अपमानकर्त्तओंका आप पराजय करने वाले हैं, सज्जनोंकी रक्षा करनेसे अथवा उन्हें विद्यादान देनेसे विराजमान हैं सुशोभित हो रहे हैं। मिथ्याभिमानियोंके अभि-मानको आप चूर चूर करनेवाले हैं। शिष्य-प्रशिष्यादिसे आप सुशोभित हैं। दुर्जनोंका आप पराभव करनेवाले हैं। सबकी

अपेक्षा आप अधिक प्रतिष्ठित हैं। रूक्ष स्वभाववालोंको आप दूर करनेवाले हैं ॥२४॥

रक्षोहणो वो वलगहनः प्रोक्षामि वैष्णवान्रक्षोहणो वो वलगहनोऽवनयामि वैष्णवान्रक्षोहणो वो वलगहनोऽव स्तृणामि वैष्णवान्रक्षोहणौ वां वलगहना उपदधामि वैष्णवी रक्षोहणौ वां वलगहनौ पर्यूहामि वैष्णवी वैष्णवमसि वैष्णवाः स्थ ॥२५॥

औतथ्यो दीर्घतमा ऋषिः। आद्यस्य ब्राह्मी बृहती छन्दः। वलगहना उपेत्युत्तरस्यार्षी पङ्क्तिश्छन्दः।

रक्षोहणो वलगहनो वैष्णवान् विष्णुभक्तान्वो युष्मान् प्रोक्षामि सिञ्चामि सकुशलान् करोमीति। युष्मानवनयामि तर्पयामि। अवस्तृणामि रक्षासाधनैराच्छादयामि। एवं सर्वान्विष्णुभक्तानाश्वास्य गुरुशिष्या उद्दिश्याश्वासयति परमेश्वरः—रक्षोहणो वलगहनौ वां युवां वैष्णवी वैष्णवौ। उपदधामि समीपे स्थापयामि। रक्षोहणौ वलगहनौ वां युवां गुरुशिष्यौ पर्यूहामि छादयामि रक्षामीत्यर्थः। छादनमाच्छादनं वा रक्षणमेव। रक्षाकारणं प्रत्याययति—त्वं वैष्णव्यसि विष्णोर्मम भक्तासीति। त्वं वैष्णवमसि विष्णुभक्तिमदसि। यूयं वैष्णवा विष्णुभक्ताः स्थेति ॥२५॥

भावार्थ—इस मन्त्रका अर्थ २३वें मन्त्रके समान ही है। कुछ विशेषता भी है वह इस प्रकारसे—परमेश्वर जीवोंको कहता है कि तुम लोग मेरे भक्त हो अतः मैं तुम्हारी तृप्ति

करता हूं । रक्षा करता हूँ । अपने समीपमें रखता हूँ । सामान्य रीति से सबको ऐसा कह कर पृथक् पृथक् उद्देश्य करके भी परमेश्वर कहता है कि सद्गुरु और सच्छिष्यकी भी मैं रक्षा करता हूँ क्योंकि वे दोनों ही वैष्णव है, विष्णुभक्त हैं—मेरे भक्त हैं । स्त्री, क्लीब, पुरुष—तीनों जातियोंको उद्देश्य बनाकर परमेश्वर कहता है कि—तुम वैष्णवी हो, तुम वैष्णव हो, तुम सब वैष्णव हो, अतः मैं तुम्हारी रक्षा करता हूँ ।

देवस्य त्वा सवितुः प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्याम् । आददे नार्यसीदमहꣳ रक्षसां ग्रीवा अपि कृन्तामि । यवोऽसि यवयास्मद् द्वेषो यवयारातीर्दिवे त्वाऽन्तरिक्षाय त्वा पृथिव्यै त्वा शुन्धन्तां लोकाः पितृषदनाः पितृषदनमसि ॥२६॥

औतथ्यो दीर्घतमा ऋषिः । आद्यस्य निचृदार्षी पङ्क्तिश्छन्दः । यवोनीत्युत्तरस्य निचृदार्षी त्रिष्टुप् छन्दः ।

देवस्य त्वेत्यादि व्याख्यातम् । अवशिष्टं व्याख्यायते । यवोसि त्वं मिश्रणकर्तामिश्रणकर्ता चासि । मिश्रणकर्ता सृष्टिकर्ता । अमिश्रणकर्ता प्रलयकर्ता । यु मिश्रणामिश्रणयोः । अस्मद्द्वेषो द्विषः । यवय । दूरे नय । यवयारातीः शत्रूनस्मत्तः पृथक् कुरु । पितृषदना लोकाः दिवेन्तरिक्षाय पृथिव्यै च त्वा त्वां शुन्धन्तां पवित्रं कुर्वताम् । स्वरूपतः पवित्रं परमात्मानं शोधयितुं कः स्यात्समर्थः ? न कोपीति, अतः शुन्धधातोः

प्रसादनमर्थ इहावबोध्यः। पितृलोकोयमेव भूलोकः। तत्र निवासिनो मनुष्याः द्युलोकस्थानामन्तरिक्षलोकस्थानां पृथिवीलोकस्थानाञ्चनां कल्याणाय सर्वे मनुष्यास्त्वां प्रसादयन्तीतिभावः। ननु दूरस्थं त्वां भूमिष्ठाः कथं प्रसादयेयुरित्याह पितृषदनमसि त्वमपि पितृलोके मनुष्यलोके निषदनशीलोसीति ॥२६॥

भावार्थ–"देवस्य...कृन्तामि" यहां तकका भाष्य पूर्वमें हो चुका है। अवशिष्टका भाष्य किया जाता है–हे परमेश्वर तू सृष्टिकर्ता और प्रलयकर्ता है। हमारे शत्रुओंको हमसे अलग कर। पृथिवीनिवासी हम लोग द्युलोक, अन्तरिक्षलोक और इस भूलोकके कल्याणके लिये तुझे प्रसन्न करते है ॥२६॥

उद्दिवꣳ स्तभानान्तरिक्षं पृण दृꣳहस्व पृथिव्यां द्युतानस्त्वा मारुतो मिनोतु मित्रावरुणौ ध्रुवेण धर्मणा। ब्रह्मवनि त्वा क्षत्रवनि रायस्पोषवनि पर्यूहामि। ब्रह्म दृꣳह क्षत्रं दृꣳहायुर्दृꣳह प्रजां दृꣳह।

औतथ्यो दीर्घतमा ऋषिः। ब्राह्मी जगती छन्दः।

हे परमेश्वर, दिवं द्युलोकम्। उद् स्तभान उत्तभान स्थिरं कुरु। अन्तरिक्षं पृणान्तरिक्षलोकं तर्पय। पृथिव्यां पृथिवीम्। द्वितीयार्थे सप्तमी। दृंहस्व दृढीकुरु। द्युतानो द्युलोके सर्वेष्वन्येषु लोकेषु च विस्तृतो मारुतो विद्वत्समूहः। मित्त्रावरुणौ मित्त्रं स्निग्धं दयालुं वरणीयं च त्वा त्वाम्। ध्रुवेण निश्चलेन। धर्मणा मनसा। धारयति सर्वं श्रुतमवगतं चेति

धर्म मनः । "मिनोतु प्रक्षिपतु स्वस्मिन्धारयत्वित्यर्थः । ब्रह्मवनि ब्रह्मरक्षकम् । क्षत्रवनि क्षत्रियरक्षकम् । रायस्पोषवनि रायस्पोषो वैश्यः । तद्रक्षकम् । वनु संभजने । संभजनमिह संरक्षणम् । एवंभूतं त्वां पर्यूहामि परितः स्थापयामि परितः पूरयामीति वा । ब्रह्म ब्राह्मणं दृंह वर्धय । क्षत्रं दृंह वर्धय । आयुर्वैश्यं दृंह । अयते सर्वत्र व्यापारार्थमित्यायुः । एतत्त्रितयातिरिक्ताः अपि प्रजा दृंह वर्धय ॥२७॥

भावार्थ—हे परमेश्वर, द्युलोकको स्थिर रखो । अन्तरिक्षको तृप्त करो । पृथिवीको भी दृढ बनाओ । समस्त लोकोंके विद्वान् तुमको अपने मनमें स्थापित करते हैं । ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्यादि समस्तप्रजाकी रक्षा करनेवाले तुमको अपने मनमें पूर्ण करता हूँ-भरता हूँ । तुम ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य-शूद्रादि सभी प्रजाको सुखी बनाओ ॥२७॥

ध्रुवासि ध्रुवोऽयं यजमानोऽस्मिन्नायतने प्रजया पशुभिर्भूयात् । घृतेन द्यावापृथिवी पूर्येथामिन्द्रस्य छदिरसि विश्वजनस्य छाया ॥२८॥

औतथ्यो दीर्घतमा ऋषिः । आर्षी जगती छन्दः ।

पृथिवीं प्रार्थयमानस्तत्स्वरूपं विवृणोति—हे पृथिवि त्वं ध्रुवासि यावत्प्रलयं स्थिरासि । अस्मिन्नायतने त्वयि पृथिव्यामितिभावः । मनुष्याणामायतनं पृथिव्येव । प्रजया सन्ततिभिः पशुभिश्च गवादिभिः । अयं यजमानस्त्वां स्तुवानः । यज देवपूजा-संगतिकरण-दानेषु । देवो दिव्यर्थः । दिव्यर्थास्तु क्रीडा-

विजिगीषा - व्यवहार - द्युति - स्तुति - मोद -मद-स्वप्न-कान्ति-गत्यादयः। ध्रुवः स्थिरो भूयादित्याशीः। घृतेन प्रकाशेन। घृ क्षरणदीप्त्योः। ज्ञानप्रकाशेनेतिभावः। द्यावापृथिवी पूर्येतां द्यामपि पूरय स्वामपीतिभावः। ज्ञानस्य प्रकाशो यथा पृथिव्यां तथा नान्यत्र। त्वमिन्द्रस्य जीवस्य। छदिरसि निवासस्थानमसि। छदिरिति गृहनाम (निघ. ३।४।१९)। छद अपवारणे। णिच्। इस् (उ. २।१०१)। "छादेर्घे द्व्युपसर्गस्य" (पा. ६।४।९६)। "इस्मन्त्रन्क्विषु च" (पा. ६।४।९७) इति ह्रस्वः। णिलोपश्च। एवं विश्वजनस्य सर्वेषां जनानां छायाश्रयभूतासि ॥२८॥

भावार्थ—इस मन्त्रमें पृथिवीकी प्रशस्ति है। हे पृथिवी तू स्थिर है अथवा प्रलयपर्यन्त स्थिर है। तेरी पीठपर यह यजमान, तेरा स्तावक, तेरी स्तुति करता हुआ सन्तति और गवादि पशुओं सहित स्थिर रहे। तुम प्रकाशसे द्युलोकको भी और इस पृथिवीलोकको भी पूर्ण करो। तुम जीवोंके निवासस्थान हो और समस्त प्राणियोंका आश्रय हो ॥२८॥

परि त्वा गिर्वणो गिर इमा भवन्तु विश्वतः।
वृद्धायुमनु वृद्धयो जुष्टा भवन्तु जुष्टयः ॥२९॥

औतथ्यो दीर्घतमा ऋषिः। अनुष्टुप् छन्दः।

हे गिर्वण गीर्भिः प्रार्थनावचोभिर्वननीय परितोष्य, प्रार्थयमानानां मनोरथप्रदातः। वनु संभजने। इमा मदीया उच्यमाना गिरः प्रार्थनावचांसि। विश्वतः सर्वतः। त्वा त्वाम्।

परिभवन्तु परिन्नः प्राप्नुवन्तु । भू प्राप्तौ । चुरादिः । किंभूतं त्वाम् ? वृद्धायुं वृद्धायुषं महायुषं नित्यमितिभावः । किं भूता गिरः ? अनुवृद्धयस्त्वामुपास्य पश्चाद्वृद्धिर्यासां तास्त्वदुपासिका इत्यर्थः । किं च जुष्टयोस्माभिः कृतास्तव सेवा जुष्टास्तव प्रीता भवन्तु ॥२९॥

भावार्थ–हे स्तुति-प्रार्थनावचनोंसे सन्तुष्ट होनेवाले परमेश्वर, तुम्हारी उपासनासे उन्नतिको प्राप्त हुए ये हमारे प्रार्थनावचन नित्य और सनातन तुमको प्राप्त करें। हमारी प्रार्थनासे तुम संतुष्ट बनो, यह तात्पर्य है ॥२९॥

इन्द्रस्य स्यूरसीन्द्रस्य ध्रुवोऽसि ऐन्द्रमसि वैश्वदेवमसि ॥३०॥

मधुच्छन्दा ऋषिः । । आर्ची उष्णिक् छन्दः ।

आचार्यः शिष्यमुपदिशति–हे शिष्य, त्वमिन्द्रस्य परमैश्वर्यस्य परमेश्वरस्य स्यूरसि संबद्धोसि । अत इन्द्रस्य ध्रुवोसि निश्चप्रचं त्वमीश्वरस्यैवासि । ऐन्द्रमस्यैन्द्रोसि । इन्द्रसम्बद्धोसीति न नवीनार्थः । वैश्वदेवमसि विश्वेषां देवानां सत्पुरुषाणां महापुरुषाणां च रक्ष्योसि संवर्धनीयोसि सत्कृत्योप्यसीति ॥३०॥

भावार्थ–आचार्य शिष्यको उपदेश देता है कि हे शिष्य तू परमेश्वरके साथ नित्य जुड़ा हुआ है। अतः तू निश्चय ही ईश्वरका ही है। समस्त विद्वानोंका तू रक्षणीय है। सभी विद्वान् तेरा सत्कार करेंगे ॥३०॥

विभूरसि प्रवाहणो वह्निरसि हव्यवाहनः। श्वात्रोऽसि प्रचेतास्तुथोऽसि विश्ववेदाः ॥३१॥

मधुच्छन्दा ऋषिः। विराडार्ष्यनुष्टुप् छन्दः।

आचार्यः शिष्यमुपदिशति—त्वं प्रवाहणोसि—ईश्वरेण तदिच्छया प्रवाहणीयोसि। अतएव विभूरसि विविधैः प्रकारैर्भवनशीलोसि। ईश्वर एव कर्मापेक्षयोच्चावचेषु स्थानेषु कुलेषु वा जीवान्नयति। त्वं हव्यवाहनोसि हव्यानां होतव्यानां मनसि स्थितानाम्। हु दानादनयोः। मनसि स्थितिरेवादनम्। भावानामिति शेषः। वह्निरसि वोढासि। यद्यन्मनसि जायते जीव एव तत्सर्वं वहति साधयति पूरयति। त्वमेव श्वात्रोसि—शु क्षिप्रमतत्येकस्माच्छरीरादन्यद् गच्छतीति श्वात्रः। देहान्तरं गन्तासि। अथवा श्वात्रोसि क्षिप्रमेव देहं त्यक्त्वा गमनशीलोसि। न हि कस्मिंश्चिद्देहे चिरस्थायीत्यर्थः। प्रचेता विशिष्टज्ञानोसि। विश्ववेदा विश्वं सर्वं वेदो ज्ञानं यस्य स विश्ववेदा अथवा विश्वं सर्वमावश्यकं वेत्तीति तथाभूतोसि ॥३१॥

भावार्थ—आचार्य शिष्यको स्वरूपज्ञान कराते हैं—ईश्वर तुझे अपनी इच्छाके अनुसार भिन्न-भिन्न स्थानों और कुलोंमें ले जाता है। जो कुछ मनमें भाव उत्पन्न होते हैं, उनका पूरा करनेवाला तू ही है। तू एक देहसे अन्य देहमें जानेवाला है और आवश्यक समस्त ज्ञान तुझमें भरे पड़े हैं ॥३१॥

ज्ञानादिना शोधकोसि । मार्जालीयः परेषां चापि शोधकोसि । मृजूष् परिशुद्धौ । सम्राडसि सम्यग्राजते तथाभूतोसि ज्ञान-सदाचारादिभिरिति । कृशानुरसि कृषति विलिखति नाशयति पापमिति कृशानुः । षकारस्य शकारः । अथवा कृशं दुर्बल-मानयति जीवयति रक्षतीति यावत्, तथाभूतोसि । परिषद्योसि परिषद्योग्योसि । मूर्खा दुराचाराश्च परिषद्यनर्हा भवन्ति । पवमानः सर्वान्पापात् ज्ञानदानादिना पावकः शोधकोसि । नभोसि पापसंहारकोसि । णभ हिंसायाम् । प्रतक्वा प्रकृष्टेन मार्गेण तकति गच्छति तथाभूतोसि । तकतिर्गत्यर्थः । मृष्टोसि शुद्धोसि । मृजूष् संशुद्धौ । हव्यसूदनो हव्यानां होतव्यानां दातव्यानाम् । हु दानादनयोः । सूदनः क्षारकोसि प्रापको-सीतिभावः । ऋतधामासि ऋतस्य सत्यस्य परमात्मनश्च धामासि स्थानमसि । स्वरसि पापानामुपतापकोसि । स्वृ शब्दोपतापयोः । ज्योतिरसि प्रकाशस्वरूपोसि । सर्वेषां ज्ञानानां ज्ञेयानां च प्रकाशकोसीति वा ॥३२॥

भावार्थ—पुनः गुरु शिष्यको उपदेश देता है—तू मेधावी है, कवि—विद्वान् है, पापोंका नाशक है, अपनेको और अन्योंको पापोंसे बचानेवाला है, ज्ञान प्राप्त करनेकी इच्छावाला है, सज्जनों का परिचारक है, शत्रुओंका परितापक है, ज्ञानादि-द्वारा अपनेको और अन्योंको भी पवित्र करनेवाला है, ज्ञान-सदाचारादिसे सुशोभित है, पापोंका निवारक है, विद्वत्सभाओं-में बैठने योग्य है, पवित्रमार्गमें जानेवाला है, शुद्ध है, देने योग्य वस्तुओंका तू दाता अथवा ग्रहीता है, सत्यनिष्ठ है,

पापियोंका संहारक है, और सब ज्ञानों और ज्ञेय पदार्थोंका प्रकाशक है ॥३२॥

समुद्रोऽसि विश्वव्यचा अजोऽस्येकपाद्‌हिरसि बुध्न्यो वागस्यैन्द्रमसि सदोस्यृतस्य द्वारौ मा मा सन्ताप्तमध्वनामध्वपते प्र मा तिर स्वस्ति मेऽस्मिन् पथि देवयाने भूयात् ॥३३॥

मधुच्छन्दा ऋषिः। ब्राह्मी पङ्क्तिश्छन्दः।

हे भगवँस्त्वं समुद्रोसि सम्यक्सुखकरोसि। उन्दी क्लेदने। विश्वव्यचा विश्वं जगद् व्यचति व्याप्नोतीति विश्वव्यचा असि। व्यच व्याजीकरणे। इह व्याप्तिरर्थः। अथवा विश्वं विशेषेणाञ्चति प्राप्नोतीति। व्यचतेरञ्चतेर्वासि-प्रत्ययः। अजोस्यनुत्पन्नोसि। एकपात्समानगतिकः समानस्थितिको वासि। न विपरिवर्तसे। अहिः सर्वगोसि। अहि गतौ। अथवा न हीयते कदापि तथाभूतोसि। एकरसोसीति यावत्। बुध्न्यः सर्वान्तर्वास्यसि। बुध्नमन्तरिक्षम्। तत्र निवासाद् बुध्न्यः (नि. १०।४४)। वागसि परमवक्तासि वेदोपदेष्टासीतियावत्। ऐन्द्रमसि परमैश्वर्यरूपोसि। सदोसि सर्वनिवासोसि। षद्लृ विशरणगत्यवसादनेषु। ऋतस्य सत्यस्य द्वारौ द्वारदेशौ मा मां मा सन्ताप्तं सन्तापयतम्। सत्यस्य द्वे द्वारे वाङ्मनसी इति। मनसा सत्यं विचार्यते तत एव तद्वाचमापद्यते। वाक् च तत्सत्यं प्रसारयतीति। जनैस्तथा वर्तितव्यं यथा न भवेन्मनस्तापो न वा वाङ्निरोधः। वाचः संतापस्तन्निरोध

एव । अध्वनोन्तरिक्षस्य हृदयान्तरिक्षस्येतियावत् । पते पालक रक्षक । यदा परमेश्वरो हृदयस्य रक्षां विदधाति तदा तत्र न मिथ्या न रागो न द्वेषो न मोहो न शोकोवस्थान-मवाप्नोति । अध्वेति अन्तरिक्षनाम (निघ० १।३।२३) । अद भक्षणे । "अदेर्ध च" (उ० ४।११२) इति वनिप् धकार-श्चान्तादेशः । अध्वनां सन्मार्गाणां मध्ये गच्छन्तं वर्तमानं वा माम् । त्वं मा प्र तिर मा अन्तर्धेहि । मा दूरं गमयेति तात्पर्यम् । तिरस् अन्तर्धौ । अस्मिन्देवयाने देवानां विदुषां मार्गे वर्तमानाय मे मह्यं स्वस्ति कल्याणं भूयादित्याशीः-प्रार्थनम् ॥३३॥

भावार्थ—हे परमेश्वर, तुम सुखकर हो, जगद्व्यापक हो, अजन्मा हो, अपरिवर्तनशील हो, एकरस हो, सर्वान्तर्वासी हो, वेदोपदेशक हो,परमैश्वर्यरूप हो, सबके निवासस्थान हो । हमारी वाणी और हमारा मन सदा सत्यका ही आश्रय ले जिससे कि हमें सन्ताप न हो ! हे हृदयरक्षक, सन्मार्गमें जाते हुए हमें दूर मत करना । इस विद्वन्मार्गमें जाते हुए हमारा कल्याण हो ।

मित्रस्य मा चक्षुषेक्षध्वमग्नयः सगराः सगराः स्थ सगरेण नाम्ना रौद्रेणानीकेन पातमाग्नयः पिपृतमाग्नयो गोपायत मा नमो वोऽस्तु मा मां हिꣳसिष्ट ॥३४॥

मधुच्छन्दा ऋषिः । स्वराड् ब्राह्मी बृहती छन्दः ।

कश्चिद्धर्मोपदेष्टाचार्य्य आह—हे अग्नयः संसारमार्गे गति-

शीला लोकाः श्रोतारः । अगि गतौ । मा माम् । मित्रस्य सुहृदः । चक्षुषा नेत्रेण भावेनेतियावत् । ईक्षध्वं पश्यत । यूयं सगरा दोषाणां निगरणे शक्तिसम्पन्नाः स्थ । गॄ निगरणे । अत एव सगराः स्तुतिसहिताः स्थ भवत । स्तुत्या भवतेत्यर्थः । सगरेण स्तुतिसहितेन स्तुत्येनेतिभावः । नाम्ना नम्रशब्देन । णम प्रह्वत्वे शब्दे । रौद्रेण स्तोतृसम्बन्धिना शब्देन । रुद्र इति स्तोतृनाम (निघ० ३।१६।१२) । रौतीति रावयतीति वा रुद्रः शब्दः । मत्वर्थीयो रः । अनीकेन प्राणनसाधनेन । अन प्राणने । "अनिहृषिभ्यां किच्च" (उ० ४।१७) इतीकन् । स्तोतुः शब्दः प्राणनसाधनमितिभावः । तेन सहिता इत्थम्भूता यूयं मा माम् । पात रक्षत । हे अग्नयो गतिशीला विद्वांसः । मा माम् । पिपृत पिपुरत । हे अग्नयो मां गोपायत रक्षत । वो युष्मभ्यं नमोस्तु । युष्मान्नमस्करोमि । मा माम् । मा हिंसीष्ट मा विनाशयतेतिभावः । एकवचनमार्षम् । आचार्यस्योपदेशोयं शिष्यान् प्रति ।।३४।।

भावार्थ—हे गतिशील श्रोताओ, मुझे तुम लोग मित्रदृष्टिसे देखो । तुमलोग यद्यपि सांसारिक जीव होनेके कारण क्रोधादि विषोंसे युक्त हो तथापि स्तुत्य बनो—दोषोंका त्याग करो । स्तुत्य और नम्रशब्दसे युक्त बनो । ऐसे तुम लोग मुझ उपदेशककी रक्षा करो । मैं तुम्हें नमस्कार करता हूँ । आप लोग मेरा नाश न होने दें । यह आचार्यका सबको उपदेश है कि तुमलोग ऐसे नम्र बनो और ऐसा बोलो ।।३४।।

ज्योतिरसि विश्वरूपं विश्वेषां देवानाᳬं समित् त्वᳬं सोम तनूकृद्भ्यो द्वेषोभ्योऽन्यकृतेभ्य उरु यन्तासि वरूथᳬं स्वाहा जुषाणो अप्तुराज्यस्य वेतु स्वाहा ॥३५॥

मधुच्छन्दा ऋषिः । विराड् ब्राह्मी बृहती छन्दः ।

हे ब्रह्मँस्त्वं ज्योतिः सर्वप्रकाशकं प्रकाशरूपं चासि । विश्वरूपं विश्वमेव रूपं निरूपणसाधनं यस्य तत्तथाभूतमसि । न हि विश्वस्मादन्यत्ते रूपम् । विश्वप्राकट्यमेव तव प्राकट्यम् । विश्वं दृष्ट्वैव तवास्तित्वानुमानं नान्यथा । अतो विश्वमेव तद्रूपं भवति । विश्वेषां सर्वेषां देवानां विदुषां सदाचारिणां समिदसि सर्वथा दीपयित्रसि । इन्धी दीप्तौ । समिन्धयतीति समित् । हे सोम परमशान्त परमेश्वर । अन्यकृतेभ्योन्यैः पामरैः कृतेभ्यः सम्पादितेभ्यः । तनूकृद्भ्यस्तनुशः कृन्तन्ति च्छिन्दन्तीति तनूकृतस्तेभ्यः । द्वेषोभ्यो द्वेषेभ्य इतियावत् । त्वं यन्तासि नियन्त्रसि । किं च त्वमेवोरु महत् । वरूथं बलमस्यस्माकमिति शेषः । अथवा वरूथं वेश्म निवासस्थानम् । व्रियते त्राणायेति वरूथम् । "जॄवृञ्भ्यामूथन्" (उ० २।६) । शरण्यमसीतियावत् । स्वाहा सु आ हा सुखं समन्ताद्गमयितृ त्वाम् । ओहाङ् गतौ । आज्यस्य सेव्यम् । षष्ठी द्वितीयार्था । जुषाणः सेवमानः । जुषी प्रीतिसेवनयोः । भवामीतिशेषः अप्तुस्त्वां प्राप्तः सन् । आप्लृ व्याप्तौ । "आप्नोतेर्ह्रस्वश्च" (उ० १।७५) इति तु प्रत्ययो धातोर्ह्रस्वश्च । स्वाहा सु आ

हा तुभ्यमात्मानं जहामि । इत्थंभूतं मां वेतु जानीहि । वी गतिव्याप्तिप्रजननकान्त्यसनखादनेषु । गत्यर्था ज्ञानार्था अपि । स्वाहेति क्वचिदव्ययपदं क्वचिच्चानव्ययम् । अविकारस्त्वन-व्ययत्वे छान्दसः ॥३५॥

भावार्थ–हे ईश्वर तुम सर्वप्रकाशक और प्रकाशस्वरूप हो । विश्वही तुम्हारा रूप है । विश्वको ज्ञान और संस्कारसे विभूषित करनेवाले तुम ही हो । हे शान्त परमेश्वर, तुम दुष्टोंसे किये गये दुःखित बनानेवाले द्वेषोंसे बचानेवाले हो । तुम ही सबके बल और निवासस्थान हो । सुखप्रापक और सेव्य तुम्हारी सेवा करता रहूँ । तुम्हें आत्मसमर्पण करता हूँ ॥३५॥

अग्ने नय सुपथा राये अस्मान् विश्वानि देव वयुनानि विद्वान् । युयोध्यस्मज्जुहुराणमेनो भूयिष्ठां ते नम उक्तिं विधेम ॥३६॥

अगस्त्य ऋषिः । निचृदार्षी त्रिष्टुप् छन्दः ।

हे अग्ने सर्वत्र गमनशील परमेश्वर, देव दिव्यगुण । अस्मानुपासकान् । राये ज्ञानधनाय ज्ञानधनप्राप्तय इत्यर्थः । सुपथा शोभनमार्गेण । नय प्रापय विदुषां संनिधिमितिभावः । यतस्त्वं विश्वानि सर्वाणि । वयुनानि प्रज्ञानानि । वयुनमिति प्रज्ञानाम (निघ० ३।६।१०) । विद्वान्विजानानोसि । सर्व-ज्ञानसम्पन्नोसीतिभावः । अस्मदस्मत्तः । जुहुराणं कुटिलम् । हुर्च्छा कौटिल्ये । "हुर्च्छेः सनो लुक् छलोपश्च" (उ० २।६१) इत्यनच् । इष्टप्रतिबन्धकमित्यर्थः । एनः पापं दोषम् ।

युयोधि पृथक्कुरु । यु मिश्रणामिश्रणयोः । यौतेः शपः श्लुः । 'वा छन्दसि' इति हेः पित्त्वपक्षे "अङितश्च" इति हेर्धिः । पित्वाद्गुणः । ते तव । भूयिष्ठामधिकतमाम् । नमउक्तिं नमोवाकम् । विधेम सम्पादयाम ॥३६॥

भावार्थ–हे परमेश्वर, दिव्यगुण, हम उपासकोंको ज्ञानधन की प्राप्तिके लिये सन्मार्गसे विद्वानोंके पास पहुँचाओ, और तुम सर्वज्ञ हो अतः हमारे इष्टप्राप्तिके विघ्नोंको हमसे पृथक् करो। हम तुम्हें प्रणाम करते हैं ॥३६॥

अयं नो अग्निर्वरिवस्कृणोत्वयं मृधः पुर एतु प्रभिन्दन् । अयं वाजाञ्जयतु वाजसातावयꣳ शत्रूञ्जयतु जर्हृषाणः स्वाहा ॥३७॥

अगस्त्य ऋषिः । भुरिगार्षी त्रिष्टुप् छन्दः ।

अयमग्निर्गतिशीलो ब्रह्मचारी विद्वान्वा । नोस्माकम् । वरिवो धनं तच्च ज्ञानरूपम् । वृञ् वरणे । यङ् लुक् । असुन् । बाहुलकादिलोपः । भृशं व्रियत इति वरिवः । वरिव इति निघण्टौ धननामसु पठितम् (२।१०।५) । कृणोतु करोतु । अयं मृधो हिंसकान् । प्रभिन्दन् हिंसन् विदारयन्वा । भिदृ विदारणे । पुर एत्वग्रे गच्छतु पुरस्सरो भवतु । ज्ञानावाप्तौ निर्विघ्नो भवत्वित्याशयः । अयं ब्रह्मचारी वाजसातौ संग्रामे । वाजान्बलिनो जयतु । वजन्ति व्रजन्ति संग्रामे ते वाजाः । वाजसातिरिति संग्रामनाम निघ० (२।१७।३६) । संग्रामो धर्मसंग्रामो वा भवतु शास्त्रसंग्रामो वा भवतु शस्त्रसंग्रामो वा भवतु । एवमयं ब्रह्मचारी वाजसातौ संग्राम एव शत्रूञ्

शातयितॄन् । जर्हृषाणोतिशयेन हृष्यन् । जयतु । स्वाहा सु आ हा सुखं समन्तात् स गच्छतु ॥३७॥

भावार्थ—यह प्रगतिशील विद्वान् ब्रह्मचारी हमें ज्ञानरूप धन दे और दुष्टोंको दूर करता हुआ हमारे आगे-आगे चले। दुष्टोंके साथ धर्मसंग्राममें यह विजयी बने। शत्रुओंको दूर करता हुआ, प्रसन्न होता हुआ सर्वत्र सुखी रहे ॥३७॥

उरु विष्णो विक्रमस्वोरु क्षयाय नस्कृधि। घृतं घृतयोने पिब प्रप्र यज्ञपतिं तिर स्वाहा ॥३८॥

अगस्त्य ऋषिः। भुरिगार्षी अनुष्टुप् छन्दः।

हे विष्णो समर्थ। विष्लृ व्याप्तौ। "विषेः किच्च" (उ० ३।३७) इति नु प्रत्ययः। वेवेष्टि विशेषेणाप्नोति शत्रून्विपक्षिणो वेति विष्णुः। उरु महद्यथा स्यात्तथा विक्रमस्व पराक्रमं कुरु। नोस्मान् क्षयाय निवासाय कृधि कुरु। अस्माभिर्निवासस्थानं मोक्षलोके प्राप्येत तथा हे परमेश्वर त्वं पराक्रमं कुरु। शरणागतिरियम्। नास्माभिरस्मदुद्धारे किञ्चित्कर्तुं शक्यतेतः परमेश्वरे त्वयि न्यासोस्माकमितिभावः। हे घृतयोने दीप्तिकारणभूत। घृ क्षरणदीप्त्योः। घृतं क्षरणं नैर्बल्यमित्यर्थः; पिब नाशयेत्यर्थः। यज्ञपतिं सत्कर्मकर्तारम्। प्र तिर प्रकर्षेण वर्धय। तिरतिर्वृद्ध्यर्थः। स्वाहा सु आ हेति पूर्ववदर्थः ॥३८॥

भावार्थ—सर्वव्यापक परमेश्वर तुम पराक्रम करो-कृपा करो और हमें अपने मुक्ति लोकमें प्राप्त करो। हमारी निर्बलताका नाश करो और हमें आगे बढाओ ॥३८॥

देव सवितरेष ते सोमस्तꣳ रक्षस्व मा त्वा दभन्। एतत्त्वं देव सोम देवो देवाँ२ ॥ उपागा इद-महं मनुष्यान्त्सह रायस्पोषेण स्वाहा निर्वरुणस्य पाशान्मुच्ये ॥३९॥

अगस्त्य ऋषिः। आद्यस्य साम्नी बृहती छन्दः। उत्तरस्य आर्षी पङ्क्तिश्छन्दः।

हे सवितर्बहूनां विदुषामुत्पादक देव विद्वन्। एष सोमः स उमः पुत्रः। स एष पुत्र इत्यर्थः। दुवम उद्गीर्णे। उद्गीर्णो जनित उत्पादितः पुत्र इत्यर्थः। स उम इत्यत्र सन्धि-श्छान्दसः। ते तुभ्यमर्पितः। तं रक्षस्व विद्याप्रदानेन पालय। एतस्य रक्षणे त्वा त्वाम्। मा दभन् मा पीडयन्तु। विघ्न-कारिणो न प्रभवेयुः केचन। दम्भु दम्भने। हे सोम शान्त देव आचार्य। त्वमप्यसि देवो विद्वान्। अत एतद् एष मदीयः पुत्रो देवो द्योतमानः सुमेधा इत्यर्थः। देवान् सविद्वच्छिष्यान् युष्मान्। बहुवचनमादरार्थे। उपागा उपागात्। छान्दसः पुरुष-व्यत्ययः। अतःपरमाचार्यवचनम्। इदमहमयमहम्। राय-स्पोषेण ज्ञानधनद्वारा पोषणेन। सह इह सहार्थः करणम्। मनुष्यान्मननशीलान्। निर्वरुणस्य मूर्खस्य। वरुणो वरणीयः। वरणीयान्निर्गतो निर्वरुणो मूर्ख इत्यर्थः। पाशाज्जालात्सं-सर्गादित्यर्थः। मुच्ये मोचयामि। स्वाहा शब्दो बहुशो व्याख्यातः ॥३९॥

भावार्थ—हे विद्वानोंको उत्पन्न करनेवाले आचार्य, इस मेरे

पुत्रको मैं आपकी सेवामें अर्पित करता हूँ। इसकी रक्षा-दीक्षा में कोई विघ्नकारी न बने। हे आचार्यदेव, आप स्वयं विद्वान् हैं अतः मेरा यह पुत्र आपके पास आया है। आचार्य कहते हैं–ज्ञानधनसे इसका पोषण करके मूर्खोंके जालसे मनुष्योंको छुड़ाता रहता हूँ। इस तुम्हारे पुत्रको मूर्खोंके जालसे मुक्त करूंगा ॥३९॥

अग्ने व्रतपास्त्वे व्रतपा या तव तनूर्मय्यभूदेषा सा त्वयि यो मम तनूस्त्वय्यभूदियꣳ सा मयि। यथायथं नौ व्रतपते व्रतान्यनु मे दीक्षां दीक्षापतिरमꣳस्तानु तपस्तपस्पतिः ॥४०॥

अगस्त्य ऋषिः। निचृद् ब्राह्मी त्रिष्टुप् छन्दः।

अस्मिन्मन्त्र उपासनाया अपूर्वं तत्त्वं निहितमस्ति। उपासकः परमात्मानमुद्दिश्य ब्रूते–हे व्रतपा व्रतानां पालक, अग्ने सर्वत्र गमनशील परमात्मन्। उपासनाकाले ध्यानेन तव या तनूर्मयि स्थापितासीत् सैषोत्थानकालेपि त्वयि तिष्ठतु। या च मम तनूस्त्वय्यभूदुपासनसमये सा मयि तिष्ठतु। इदमत्रोक्तं भवति–नास्ति परमेश्वरः शरीरं न वात्मनः। उभयोरेव निराकारत्वं श्रुतिसम्मतम्। तथाप्युपासकः स्वाध्यासवशादुपास्यस्य परमात्मनः किञ्चिच्छरीरं परिकल्प्योपासनमारभते। उपासनकाले न प्रतीयते जीवपरमात्मनोरुभयोर्भेदः। अभेद एवोपासनायाः फलम्। एवं चायं परमात्मायं चाहमात्मेति न भवति तदानीं विवेकः। उपासनावसान उपास्योपासकयोर्भेद-

प्रतीतिर्जागर्त्येव। तदेतत्सर्वं तत्त्वमस्मिन्मन्त्रोत्तरार्द्धे निहितम्। उत्थानकाले चोपासको ब्रूते—हे व्रतपते व्रतानां कर्मणां पते, नावयोर्जीवेश्वरयोर्व्रतानि कर्माणि यथायथं सन्तु। उपासनावसरे यदैक्यं प्रतीयते तदभावादुत्थानकाले त्वं परमात्मास्यतस्त्वदीयानि कर्माणि त्वयि सन्तु, अहमात्मा त्वदुपासक एवं च मदीयानि कर्माणि मयि सन्तु। किं च मे दीक्षां त्वं दीक्षापतिरन्वमंस्त। एवं च तपस्पतिस्तपसां पतिः पालकः परमात्मा तपो मदीयं तपोनु अन्वमंस्तेति भावः। दीक्षातपसी उभे एव परमात्मनाङ्गीकृते इतिभावः। "दीयते विमलं ज्ञानं क्षीयते कर्मवासना। तेन दीक्षेति सा प्रोक्ता मुनिभिस्तन्त्रवेदिभिः॥" इतिदीक्षास्वरूपम्। विधिनोक्तेन मार्गेण कृच्छ्चान्द्रायणादिभिः। शरीरशोषणं प्राहुस्तपसां तप उत्तमम्। इतितपस्स्वरूपम्। अथवा, ऋतं तपः सत्यं तप इत्याद्यौपनिषदं तपःस्वरूपं ग्राह्यम्। वेदात्पश्चाद्भुवानामुपनिषदां वचनेन न ततः पूर्वभवीयानां वेदवचनानां साधने प्रवृत्तिः साधीयसीति मतं चेन्न तत्रास्माकमाग्रहगृहीतं चेतः। यथेच्छसि तथास्तु। मन्त्रस्तु व्याख्यात एव॥४०॥

भावार्थ—इस मन्त्रमें उपासनाका अपूर्व तत्व उपदिष्ट हुआ है। उपासक परमात्माको उद्देश्य बनाकर कहता है कि हे परमेश्वर, उपासनाकालमें ध्यानके द्वारा आपकी जिस मूर्तिका मैंने अपने हृदयमें स्थापन किया था और उसके द्वारा ऐक्यका अनुसन्धान करता, था अब उत्थानकालमें आप आप रहें और मैं मैं रहूं। किंच तुम दीक्षापति हो और तपके पति भी हो, अतः हे

परमेश्वर, मेरी दीक्षा और मेरे व्रतका अङ्गीकार करें ॥४०॥

उरु विष्णो विक्रमस्वोरु क्षयाय नस्कृधि। घृतं घृतयोने पिब प्रप्र यज्ञपतिं तिर स्वाहा ॥४१॥

अगस्त्य ऋषिः। भुरिगार्षी अनुष्टुप् छन्दः।

पूर्वव्याख्यातोयं मन्त्रः ॥४१॥

भावार्थ—इस मन्त्रका भाष्य पूर्व हो चुका है ॥४१॥

अत्यन्याँ२ऽ अगां नान्याँ२ऽ उपागामर्वाक्त्वा परेभ्योऽविदं परोऽवरेभ्यः। तं त्वा जुषामहे देव वनस्पते देवयज्यायै देवास्त्वा देवयज्यायै जुषन्तां विष्णवे त्वा। ओषधे त्रायस्व स्वधिते मैनꣳ हिꣳसीः ॥४२॥

अगस्त्य ऋषिः। स्वराड् ब्राह्मी त्रिष्टुप् छन्दः।

गुरूपसत्तिं परमेश्वरोपसत्तिं वा निर्दिशति—अन्यान्विदुषोत्यगामतिक्रम्यागां त्वामितिशेषः। त्वा त्वाम्। परेभ्यो विद्वद्भ्योऽर्वाक् समीपस्थमविदं वेद्मि। अवरेभ्यो निकटस्थेभ्यश्च त्वां परः परस्तात् तेभ्य उत्कृष्टमित्यर्थः। वेद्मि। सर्वेषामुत्तममध्यमादीनां विदुषां मध्ये भवन्तमेवोत्कृष्टतममहं मन्य इति भावः। हे वनस्पते वनानां सेव्यानां सर्वेषां पते, देव दिव्यगुणविशिष्ट, तं त्वा त्वाम्। देवयज्यायै विद्वत्पूजायै। जुषामहे सेवामहे वयमिति, देवा अन्येपि विद्वांसस्त्वा त्वां देवयज्यायै जुषन्तां सेवन्ताम्। विष्णवे त्वत्प्राप्तय इतिभावः। त्वा त्वां सेवामहे। हे ओषधे सर्वेषां दोषाणां धातः पातः। ओषशब्दे

दोषशब्दे वोपपदे धयतेः "कृत्यल्युटो बहुलम्" (पा. ३।३।११३) इति किः प्रत्ययः कर्तरि। आचार्य, अथवा परमेश्वर, त्रायस्व शरणागतं मां रक्ष। हे स्वधिते स्व आत्मीयो जनो धीयते धार्यते रक्ष्यते येन सः। स्वशब्दोपपदाद् "धि धारणे" इत्यस्मात् क्तिन्। आचार्य अथवा परमेश्वर, एनमुपस्थितं माम्। मा हिंसीर्मा त्याक्षीः। अत्र हिंसिस्त्यागार्थः ॥४२॥

भावार्थ–कोइ भक्त आचार्य अथवा परमेश्वरकी शरणागति स्वीकार करता है और कहता है-सबको छोड़कर आपके शरणमें आया हूँ। सब विद्वानोंकी अपेक्षा आपको मैं ईश्वरके अधिक समीपस्थ समझता हूँ। हे सब सेव्योंके पति, देव, विद्वत्पूजा विद्वत्सत्कारके लिये आपका सेवन करता हूँ। अन्य विद्वान् भी तुम्हारी सेवा करें। सबके दोषोंको दूर करनेवाले हे आचार्य अथवा ईश्वर, मैं तुम्हारे शरणमें हूँ। रक्षा करो। मेरा त्याग मत करो ॥४२॥

द्यां मा लेखीरन्तरिक्षं मा हिꣳसीः पृथिव्या सम्भव। अयꣳ हि त्वा स्वधितिस्तेतिजानः प्रणिनाय महते सौभगाय। अतस्त्वं देव वनस्पते शतवल्शो विरोह सहस्रवल्शा वि वयꣳ रुहेम ॥४३॥

इति (शुक्ल) यजुर्वेदे (माध्यन्दिनसंहितायाम्) चतुर्थोध्यायः।

अगस्त्य ऋषिः। ब्राह्मी त्रिष्टुप् छन्दः।

आचार्यः शिष्यमुपदिशति—द्यां द्युतिं स्वज्ञानप्रकाशम्।

मा लेखीर्मा विनाशय । लिख अक्षरविन्यासे । औचित्यादत्र हिंसार्थः । अन्तरिक्षमन्तर्निरीक्षणसाधनं मनोपि मा हिंसीः । एवं च पृथिवीस्थलोकैः । संभव संभावितो भव । अयं हि तेतिजानोतितीक्ष्णः । स्वधितिः स्वजनरक्षणपरायणो गुरुरहं परमात्मा वा । महते सौभगाय । त्वा त्वाम् । प्रणिनाव प्रणीतवान् सज्जीकृतवानित्यर्थः । अतो हे वनस्पते ज्ञानानां पते देव दिव्यगुणविशिष्ट शिष्य, शतवल्शः शतैर्वरणीयः मन् । वृञ् वरणे । श प्रत्ययः । रेफस्य लकारः । विरोह विशेषेण वृद्धिं गच्छ । एवं च वयं सहस्रवल्शाः सहस्रवल्शा इव सहस्रैर्वरणीयाः सन्तः । विरुहेम विशेषेण रोहेम वृद्धिं गच्छेमेत्यर्थः । इव दाढ्यार्थे । अव्ययानामनेकार्थत्वात् ॥४३॥

इतिसर्वतन्त्र-स्वतन्त्र-कवितार्किक-परमहंस-परिव्राजकाचार्य-

पण्डितराज-स्वामि-श्रीभगवदाचार्येण प्रणीतं

(शुक्ल) यजुर्वेदे (माध्यन्दिन-संहितायाम्)

पञ्चमाध्याये यजुः-संस्कारभाष्यम् ।

भावार्थ—आचार्य शिष्यको उपदेश करता है कि अपने ज्ञानके दीपकको मत बुझाओ । मनकी भी हिंसा न करो । इस रीतिसे लोकोंसे पूजित बनो । स्वजनों-शिष्योंकी रक्षामें तत्पर इस अतितीक्ष्ण-अति बुद्धिशाली गुरु-मैं ने परम सौभाग्यके लिये तुम्हें तैयार किया है-योग्य बनाया है । इसलिये हे ज्ञानोंके पति तथा दिव्यगुणविशिष्ट शिष्य तुम सैंकडो मनुष्योंसे पूजित होते हुए परम बुद्धिको प्राप्त हो इस प्रकारसे हम गुरु-

शिष्य, सहस्रों मनुष्योंके माननीय होकर अतिशय बुद्धिको प्राप्त करें ॥४३॥

इति सर्वतन्त्र-स्वतन्त्र-कवितार्किक-परमहंस-परिव्राजकाचार्य-
"पण्डितराज" स्वामिश्रीभगवदाचार्येण प्रणीतं
(शुक्ल) यजुर्वेदे (माध्यन्दिनसंहितायाम्)
पञ्चमाध्याये यजुः-संस्कारभाष्यस्य
हिन्दीभाषया निबद्धं संक्षिप्तं रहस्यम्

